

तत्वमाला

अर्थात्

जिनेन्द्रमतदर्पण द्वितीय भाग।

सम्पादक—

जैनधर्मभूषण ब्र० शीतलप्रसादजी,

ऑ० सम्पादक "जैनमित्र" व "वीर"-सूरत।

प्रकाशक—

मूलचन्द किसनदास कापड़िया,

मालिक, दि० जैन पुस्तकालय-सूरत।

तृतीय आवृत्ति] वीर सं० २४५० [प्रति १०००

मूल्य ।≤) छह आने।

मुद्रक—
मूलचंद किसनदास कापड़िया,
"जैनविजय" प्रिंटिंग प्रेस,
सूरत।



प्रकाशक—
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
मालिक, दि० जैनपुस्तकालय
चंदावाड़ी-सूरत।

प्रस्तावना।

"तत्वमाला" नामक एक लेखमाला "जैनगजट" के १९०४-५ के अंकोंमें पूज्य ब्र० शीतलप्रसादजी द्वारा प्रकट हुई थी, उसकी मांग होनेपर यह १९०५ में ही पुस्तकाकार छपाया गया था वह बिक जानेपर १९११ में इसकी दूसरी आवृत्ति "भारत जैन महामंडल" ने प्रकाशित की थी वह भी बिक जानेपर कई वर्षोंसे यह पुस्तक नहीं मिलती थी और मांग आती रहती थी इसलिये ब्रह्मचारीजीकी आज्ञानुसार हमने इसकी यह तीसरी आवृत्ति प्रकट की है।

इस पुस्तकमें ब्रह्मचारीजीने जैनधर्मके मूल तत्वोंका वर्णन श्री तत्त्वार्थसूत्रकी अर्थ बोध टीकाके अनुसार इस रीतिसे दिखलाया है कि हमारे अल्पज्ञानी नवयुवकोंको वह भले प्रकार समझमें आ सके। जिनेन्द्रमतदर्पण प्रथम भाग भी ब्रह्मचारीजीने प्रकट किया है उसका ही यह द्वितीय भाग है जो स्वाध्याय प्रेमियोंके अतिरिक्त पाठशालाके विद्यार्थियोंको पढ़ाने योग्य तथा जैन व अजैनोंमें मुफ्त वितरण करने योग्य है। आशा है इस तीसरी आवृत्तिका भी शीघ्र ही प्रचार हो जायगा।

जाति सेवक—

सूरत,
ता० २२-७-२४.

मूलचन्द किसनदास कापड़िया,

विषयसूची।

जिनेन्द्रमत दर्पण

* दूसरा भाग *

(तत्त्वमाला)

भाई साहबान्—क्या यह बात सत्य है ! कि

"श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुंडलेन, दानेन पाणिर्न तु कंकणेन ।
विभाति काया खलु सज्जनानाम् परोपकारेण न चंदनेन ॥"

अर्थात् कानोंकी शोभा कुंडल पहननेसे नहीं परन्तु शास्त्र सुननेसे है, हाथकी शोभा कंकणसे नहीं परन्तु दान देनेसे है, इसी तरह सज्जनोंके शरीरकी शोभा चंदन लगानेसे नहीं परन्तु परोपकारसे है ।

इस प्रश्नका उत्तर कुछ शीघ्रतामें देनेकी आवश्यकता नहीं। थोड़ी देर एकांत बैठ चित्तकी वृत्तिको सर्व आकर्षणोंसे रोक अपने अंतरंगमें वादानुवाद करके निर्णय कीजिये और तब भलेप्रकार साहसकी कमर बांध निर्भय हो खुले स्थानमें आकर बड़ी ध्वनिसे इस प्रश्नका उत्तर कह दीजिये ।

पाठकगण—है कि नहीं, क्योंकि विना विचारे कहना केवल कहना ही कहना है। यदि विचार पूर्वक कहना होगा तो क्या सच्ची श्रद्धापूर्वक कहना न होगा। बस महाशयो मैं तो यही विश्वास करता हूं कि आप अपने मुक्त कंठसे यही कह उठेंगे कि " निःसन्देह इस श्लोकका वचन बहुत ठीक है " ।

यदि यही उत्तर आपका होगा तो हम भी सहमत हैं। पर हमें शब्द "क्यों" के उत्तरोंका प्रकाश करना भी आवश्यक है। क्या यह कान कुंडल पहननेके लिये नहीं ? तब फिर कुंडलोंका होना निरर्थक है। नहीं नहीं कुंडल पहनाना इस कर्णकी बाह्य शोभाको दिखलाना है। पर जब यह कर्ण कुंडल तो पहन लें पर हमारे हितकारी कार्यकी ओर अपने विषयको न लगाकर अहितमें प्रवर्ते तो क्या यह कर्ण उस सोनेके घड़ेके तुल्य नहीं है कि जो मलसे पूरित हो अथवा उस कर्णकी प्रभा उस स्त्रीके तुल्य नहीं है जो कि शृंगार रसमें भीगी होनेपर कुशीलके कीचड़से लिप्त हो ? पर महाशयो ! ऐसे कर्णको दोषी ठहरानेके समय कुछ हमें और भी वर्णनकर देना पड़ेगा कि हमारा कौन कार्य हितकारी और कौन अहितकारी है। पाठकगण ! कृपया इन दो बातोंका भी ध्यान करें—हमारी सम्मति इस विषयमें यह है कि जो कार्य्य हमें वास्तवमें सुख पहुंचानेवाला व सुखके मार्गमें ले जानेवाला है, वही हितकारी और इससे विरुद्ध अहितकारी है।

अब यह भी निर्णय कीजिये कि सुख क्या है ? जहां तक बुद्धिमानोंने विचार किया है सुख उस अवस्थाको कहते हैं कि जिस समय आकुलताका अभाव हो, क्योंकि जहां आकुलता, घबड़ाहट, चिन्ता, शोक, क्रोध, लोभ, माया इत्यादि उपस्थित होंगे वहां सुख कहांसे हो सक्ता है। इंद्रियोंके विषयोंसे माना हुआ सुख कुछ आकुलताके अभावसे जबतक उस विषयकी स्थिरता है और अपना चित्त केवल उसी विषयमें लौलीन है तब तक है। पश्चात् फिर अन्य विषय ग्रहण करनेकी आकुलता बाधित

करती है। जैसे किसीको सेव खानेकी इच्छा हुई अब जबतक सेवका स्वाद जबानको न मालूम होगा तबतक आकुलता रूप दुःख है। यदि पुन्य योगसे हमारी इच्छाके अनुसार सेव आ भी गया (क्योंकि जगतके प्राणी बहुत प्रकारके विषयोंके पानेकी कामनाएं किया करते हैं पर उनकी एक भी इच्छा फलीभूत नहीं होती) और उसने भक्षण भी किया परन्तु उसके भक्षण करतेर ही दूसरी किसी वस्तुकी इच्छा हुई कि तुरंत दुःख पैदा हो गया। अब जबतक यह इच्छा पूर्ण न होय तबतक यह दुखी है। इस प्रकार इन्द्रियोंके विषयों द्वारा सुखको मानना ऐसा है कि जैसे कोई अनेक रोगोंसे पीड़ित होय और उसका एक रोग शांत हुआ हो इतने ही में यह रोगी उसके शांत होनेसे अपनेको सुखी मान लेवे, लेकिन यदि ठीक २ विचारियेगा तो यही कहना होगा कि जबतक यह रोगी सर्व रोगोंसे मुक्त न हो जाय कदापि सुखी नहीं है। इसी तरह संसारी प्राणियोंको अनेक असंख्य इच्छाओंकि रोग लगे हुऐ हैं। जब एक इच्छा रूपी रोग किसी शुभ कर्म वशसे शांत होता है तो यह प्राणी अपनेको सुखी मान लेता है, पर वास्तवमें सुखी वही होगा जिसकी सर्व इच्छाओंकि रोगोंकी शांति हो जायगी। इसी लिये हमको यह यत्न करना योग्य है कि जिसमें हमें विषयोंकी इच्छाएं बाधित न करें। बस यही सुख-मार्ग पानेका सीधा उपाय है। पाठकोंने भले प्रकार जैन शास्त्रोंसे निर्णय किया होगा कि बड़े बड़े महान् पुरुष जैसे तीर्थंकर चक्रवर्ती आदिक पूर्ण पुन्य योगसे इच्छित विषय प्राप्त करनेका बल रखते थे तथापि इच्छाओंके रोगोंसे उनकी मुक्ति उस बलसे नहीं

हुई—उनको इन रोगोंसे छूटनेके वास्ते परिग्रहका भार छोड़ वनमें जा नग्न दिगम्बर हो तप करना पड़ा, अपने चित्तको अपने आपमें बिठाला पड़ा। तब उनके पूर्ण यत्नसे वे इच्छाओंके रोगोंसे मुक्त हुए और तब तीन लोककी वस्तुओंका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सर्व प्रकारसे सुखी होते भए। बस वास्तवमें हम प्राणियोंको भी वही मार्ग धारण करना उचित है अर्थात् जितेन्द्रिय हो अपने आत्मद्रव्यको जानना उचित है। अपने आत्मद्रव्यरूपी फटिकमणिमें तीन लोककी वस्तुओंके सर्वगुण पर्य्याय झलकेंगी और किसी चीजके विषय जाननेकी इच्छा पैदा न होगी।

पूर्ण यत्न सुखी होनेका तो मुनिपद ग्रहणसे है पर जबतक ऐसा न हो सके तबतक गृहस्थीमें यथाशक्ति यत्न करता रहे—बस अपने कानोंको ऐसी ध्वनि सुनाना कि जो चित्तको प्रमादसे छुटाकर उद्यममें, जुआ आदि सात व्यसनोंसे छुटाकर धर्म, अर्थ, काम—मोक्षरूप चारों पुरुषार्थोंके साधनमें, क्रोध मान माया लोभकी तीव्रतासे बचाकर विवेकके मार्गमें, स्वार्थीपनेकी आदतसे बचाकर कुटुम्ब रक्षण, जाति वा धर्म रक्षण, देश हितरक्षण व जगत सुखदायक कार्य्योंकी ओर फेर देवे वही हमारा हित है। सो इसीलिये न्यायकार कहते हैं कि हे भाइयों! कानोंकी शोभा कुंडल पहननेसे नहीं किन्तु हितकारी वार्ताके सुननेसे है। इसी तरह वह हाथ जो कि निर्ममत्व हो सर्व त्याग कर दे अथवा जो परोपकारमें अपने हाथसे धनको दान करे वही हाथ शोभनीक है। इसी तरह सज्जन और साधु पुरुषोंके शरीर निश्चयसे चन्दन लगानेसे शोभनीक नहीं होते किन्तु यदि वह अपने शरीरसे परोपकार करें तभी शोभनीक हैं।

भाइयों ! जो आप मि० गोखले, दादा भाई नौरोजी, मि० ताता, मि० सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, मि० मदनमोहन मालवीय, मि० सय्यद अहमद इत्यादि परोपकारियोंकी प्रशंसा करते हैं वह उनके परोपकारतामें अपने तनको लगाने हीके कारण करते हैं। कुछ सुन्दर पगड़ी और कपड़े पहननेसे नहीं। इसी तरह हमारी जैन जातिके भद्र पुरुषों (जेन्टिल्मैनों) की शोभा उसी समय है जब वे अपने आपको जाति व धर्मकी उन्नतिमें लगा देवें। कुछ सुन्दर कपड़े पहनने पगड़ी बांधनेसे नहीं, कुछ पतलून कोट पहननेसे नहीं, कुछ वृथा प्रलाप करनेसे नहीं।

अध्याय दूसरा।

सप्ततत्व।

भाइयो ! श्रीमान् उमास्वामी आचार्य्य* ने मोक्षमार्गका स्वरूप अपने रचित श्री तत्वार्थसूत्रजीमें जैसा वर्णन किया है वही मार्ग अनादिकालसे चला आया है। मोक्षमार्ग वही मार्ग है जो कि जीवको दुःखोंसे बचाकर ऐसी दशामें करदे कि जिस दशामें रहकर वह पूर्ण आनन्द अनंत काल तक भोगता रहे। पूर्ण आनन्द क्या वस्तु है ? और क्यों इसके प्राप्त करनेकी आवश्यक्ता है ? यह वर्णन पहले किया जाचुका है, तथापि यहांपर भी उसकी किंचित परिभाषा दीजाती है।

* यह आचार्य संवत् १०१ में हुए हैं।

पूर्ण आनन्द वह स्वाधीन निराकुल आनन्द है जो कि अपने जीवका निज स्वभाव है और उसके पानेकी आवश्यकता इस प्रयोजनसे है कि यह जीव उस दशामें पूर्ण ज्ञानी अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है और यह नियम है कि सुख ज्ञानपूर्वक है। जिस व्यक्तिको एक वस्तुका हाल जबतक नहीं मालूम था वह दुःखी था उसको वह हाल मालूम हो गया वह सुखी हो गया। इसी तरह पूर्ण ज्ञानी पूर्ण सुखी है, क्योंकि ऐसे जीवके लिये कोई पदार्थ शेष नहीं रहा कि जिसके जाननेकी आकुलता हो। आकुलताके अभावसे वह पूर्ण ज्ञानी सदा सुखी है-बस इसी पूर्ण ज्ञानी होनेका जो उपाय है वही मोक्षमार्ग है।

यह मार्ग तीन भेद रूपसे है अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अर्थात् अच्छी तरह विश्वास करना अच्छी तरह जानना और अच्छी तरह आचरण करना–किनको ? तत्वोंको। तत्व क्या वस्तु हैं ? इस शब्दका अर्थ सत्यता है और यहां पर भी तत्व उसीको कहते हैं जो सत्य सत्य वस्तु मोक्षमार्गमें प्रयोजन भूत हैं अर्थात् वह वस्तु जिनके कि जाने बिना मोक्षमार्ग नहीं ग्रहण किया जा सकता।

तत्व सात–७ हैं:—

जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

अध्याय तीसरा ।

जीव तत्त्व ।

महाशयो ! जीवसे निश्चय करके मतलब उस चीजसे है जो कि जीती थी अर्थात् चेतन्य रूपमें थी; जीवे है याने इस वर्तमान समयमें भी जी रही है और जीवेगी याने आगामी जीती रहेगी । प्रयोजन यह है कि ज्ञान जो एक गुण है यह जीव हीके पास है और कहीं नहीं। जिस चीजमें जीव नहीं होता उसको जड़ कहते हैं। जड़में समझने व पहचाननेकी ताक़त नहीं। यह ताकत एक जीव ही के पास है।

यह बात निर्विवाद सिद्ध है व हरएक मत व हरएक बुद्धिमान अच्छी तरह समझता है कि जीव जिसको रूह कहते हैं उसका काम "जानने" का है। जिस वक्त यह शरीरमें रहता है यह अपने शरीरके द्वारा किसी चीजको छूकर, किसीका सवाद लेकर, किसीको सूंघकर, किसीको देखकर और किसीको सुनकर उनका हाल मालूम करता है। जिस वक्त यह शरीरमें नहीं रहता, शरीर अकेला किसी चीजका हाल जाननेको असमर्थ होजाता याने नहीं जान सक्ता है।

अब यहांपर कोई कोई मतवाले यह शंका करते हैं कि जीव कोई जुदी चीज नहीं है और वे कहते हैं जैसा कि इस छंदमें वर्णित है।

चौपाई ।

भूजल अगनि पवन नभ मेल ।
पांचो भए चेतना खेल ॥
त्यों गुड़ आदिक तें मद होय ।
मद ज्यों चेतन थिर न कोय ॥

याने जमीन, पानी, आग, हवा और आकाशके मिलनेसे चेतना याने जीव पैदा होजाता है जैसे गुड़ वगैरह चीजोंकि मिलनेसे मदिरा याने शराब बन जाती है जिसका काम नशा है।

इसके जवाबमें जीव माननेवाले यह दोहा कहते हैं—

दोहा।

पांचों जड़ ये आप हैं जड़ ते जड़ ही होय।
गुड़ आदिक तैं मद भयो, चेतन नाहीं सोय॥
भूजल पावक पौन नभ, जहां रसोई जान।
क्यों नहिं चेतन ऊपजै, यह मिथ्या सरधान॥

याने जमीन वगैरह जिन पांचोंके मिलनेसे कहते हो कि जीव पैदा होता है सो ये पांचों ही जड़ हैं, जड़ चीजसे जड़ पैदा होगी चेतन नहीं, गुड़ वगैरहके मिलनेसे मदिरारूपी एक जड़ चीजकी पैदाइश हुई। इस मदिरामें अपने आप नशा कुछ नहीं है। जब यह पी (पिई) जाती है तो पीनेवालेको नशा मालूम भी होता है और नहीं भी मालूम होता है सो इस तरहसे तो जगतमें यह कायदा ही है कि कई जड़ चीजोंके मिलनेसे एक दूसरे प्रकारकी जड़ चीज पैदा हो जाती है जिसका असर कुछ न कुछ होता ही है जैसे पानी, मीठा, रवा और अग्निके जरियेसे मिलकर हलवा होजाता है जो कि अपना एक खास असर रखता है। और देखिये रसोईमें मिट्टी, पानी, आग, हवा और आकाश पांचों चीजें होती हैं पर उनसे सिवाय जड़ चीजोंके कोई चेतन चीज पैदा नहीं हो सकती है—

यह बात तो सायन्स (विज्ञान) के जरियेसे भी प्रमाणित है कि जिन चीजोंमें पुद्गल (Matter) है उनके मिलने व अलग करनेसे पुद्गल (Matter) ही होजायगा। पुद्गलमें तरह तरहकी शक्तें मौजूद हैं। एलेक्ट्रिसिटी (बिजुली) आदिक सब पुद्गल ही की पर्याय हैं। इनमें कुछ भी चेतना नहीं। जीवकी कोई मूरत नहीं बना सकता है। पुद्गलका छोटासे छोटा टुकड़ा (जिसका और टुकड़ा नहीं हो सकता) भी मूर्तिक होगा। यदि हम यह मानें कि मिट्टी, पानी, आग, हवाके मिलनेसे जीव होता है और एक एकका इनमेंसे एक एक ही छोटेसे छोटा टुकड़ा आपसमें मिलकर जीव होजाता हो, तब भी इन पांच टुकड़ोंसे बनी चीज मूर्तिक ही होनी चाहिये, अमूर्तिक नहीं। मूर्तिककी तौल भी होती है किन्तु इस अमूर्तिक वस्तु जीवमें कोई तौल नहीं। अगर एक जीवधारीका शरीर उसके मरते समय तौला जाय और फिर जीव न रहे तब उसी शरीरको तौलो बशर्ते कि उसके शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाला एक भी परमाणु जर्रा (Matter) पुद्गलका अलग न हो। तो दोनोंकी तौल बराबर होगी।

यह जीव अनादिकालका है कभी इसका नाश नहीं होता।

चौपाई ॥

बालक मुख मैथुनको लेय।
दाबे अंचे दूध पिवेय॥
जो अनादिको जीव न होय।
सीख बिना क्यों जाने सोय॥
मरके भूत होत जे जीव।

पिछली बातें कहैं सदीव ॥
सिरचढ़ि बोलैं निज घर आय ।
तातें हंस अमर ठहराय ॥

भावार्थ-छोटा लड़का जन्मते ही अपनी माताको पहचान कर दूध पीने लगता है। शरीरमें दुःख मालूम होते ही रो देता है, दूसरे जो जीव मरकर भूत आदिक नीच देव होते हैं वे कभी किसीके सिर चढ़के पिछली बातें कहते हैं इत्यादि दृष्टान्त इस बातके प्रमाण हैं कि, जीव अनादि, अनन्त, अविनाशी, पुद्गलसे भिन्न कोई अमूर्तिक वस्तु है। मूर्तिक पुद्गलसे इसका निश्चयसे सम्बन्ध नहीं है-इस जीवका लक्षण 'जानना' 'देखना' है। लेकिन संसारी जीवोंके ज्ञान दर्शन स्वभावका प्रगटपना बहुत कम है इससे संसारी जीवोंका जानपना इन पाँच इंद्रिय तथा मनके द्वारा होता है। जैसे कि दृष्टि ठीक न हो तो उसको देखनेके लिये चश्मा लगानेकी आवश्यकता होती है उसी प्रकार हमारे जानपनेका स्वभाव जबतक निर्मल नहीं तबतक जानपनेके लिये सहायताकी आवश्यकता होती है। यहां पर यह शंका होगी कि जब **जीव** वस्तुका स्वभाव जाननेका है तब और सहायताओंकी क्या आवश्यकता है? इसका समाधान इस प्रकार है कि संसारी जीवोंके स्वभाव अनादि कालसे किसी प्रकारके मलसे पूरित हैं जो कि इनको अपने स्वाभाविक कार्यके होनेमें बाधा करते हैं। वे मल क्या हैं इसका वर्णन **अजीव** और **आश्रव** तत्वमें किया जायगा।

यहांपर केवल जीव तत्व ही वर्णन है।

इसी जीव तत्वके विषयमें एक कविकृत यह कवित्त है।

सवैया ।

जीव सदा उपयोग मई, निरमूरति भावनिको करता है ।
देह प्रमान कह्यो भुगता भव वास वसै शिवको भरता है ॥
ऊरध चाल सुभाव विरानत नौ अधिकारनिको धरता है ।
सो सब भेद बखान कहूँ शरधान करो भ्रमको हरता है ॥१॥

सवैया ३१

इन्द्री पांच बल तीन श्वास आव दस प्राण मूल चार इन्द्री बल स्वास आव मानिये । पूरव जीवे था अब जीवे आगे जीव होगा एई प्राण सेती विवहार जीव जानिये ॥ सुख सत्ता बोध और चेतन निहचे प्राण, शाश्वतो सुभाव तीन कालमें बखानिये । विवहार निहचे स्वरूप जान सरधान ऐसे जीव वस्तु लखै सो सुखी पिछानिये ॥

भावार्थ–जीवके मुख्य करके ९ विशेषण हैं (१) सदा जीव है अर्थात् तीनों कालमें जीना है (२) उपयोगमई याने ज्ञान दर्शनका धारी है (३) अमूरत है पुद्गलकी ऐसी कोई मूरत (Material figure) नहीं है (४) कर्त्ता है याने व्योहारसे कर्मोंका कर्त्ता है निश्चयसे अपने ही भावोंका कर्त्ता है (५) देह प्रमाण याने जिस देहमें जाता है उसी देहके प्रमाण सिकुड़ता व फैल जाता है (६) भोक्ता है याने व्यवहारसे अपने ही किये हुए कर्मोंका फल आप भोगता है । निश्चयसे अपने स्वभावको भोगता है (७) संसारी है अर्थात् संसारमें भ्रमने वाला है (८) सिद्ध है अर्थात् संसारसे रहित शिवरूप है (९) ऊर्ध्व स्वभाव धारी है याने अग्निकी लौ के समान ऊंचा चलनेका है स्वभाव

जिसका। व्यवहारमें जीव वह है जिसके कमसे कम ४ प्राण और ज्यादासे ज्यादा १० प्राण होते हैं।

एक इन्द्रीवाले जीवोंके ४ प्राण याने स्पर्श इन्द्री, शरीरका बल; आयु और श्वासोछ्वास होते हैं।

दो इन्द्रीवाले जीवोंके ६ प्राण याने पहले कहे हुओंसे रसना इन्द्री और वचन बल ज्यादा होता है।

तीन इन्द्रीवाले जीवोंके ७ प्राण याने एक घ्राण (नाक) इन्द्री ज्यादा होती है।

चार इन्द्रीवाले जीवोंके ८ प्राण याने एक चक्षु (आंख) इन्द्री ज्यादा होती है।

पांच इन्द्रीवाले जीव दो तरहके होते हैं एक मनवाले दूसरे मन विना—

मन रहित पंचेन्द्री जीवोंके ९ प्राण याने एक कर्ण इन्द्री ज्यादा होती है। मन सहित पंचेन्द्री जीवोंके १० प्राण याने एक मन बल ज्यादा होता है।

और निश्चय कर जीव वह है जिसके सदा ज्ञान दर्शन सुख पाया जाय।

यहां पर व्यवहार और निश्चय दो शब्द कहे इनका प्रयोजन यह है कि निश्चय उसे कहते हैं जो कि एक चीजके असली हालको कहे। व्यवहार उसे कहते हैं जो कि असली हालको न कहकर किसी और चीजके सबबसे जो तरह २ की हालतें हों उनको कहे।

जीवका जो जानना स्वभाव है उस ज्ञान स्वभावके पांच भेद हैं अर्थात् मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इनमेंसे केवलज्ञान जिस समय जीवके स्वभावमें होता है उस समय यह जीव स्वयं विना किसी और वस्तुकी मददके तीन लोककी सब चीजोंको जान लेता है। अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानके होनेपर इस जीवके जाननेकी शक्तिमें और चीजोंकी थोड़ी मददकी आवश्यकता होती है इसीलिये इन दो ज्ञानोंको कुछ प्रत्यक्ष भी कहते हैं।

किन्तु मति ज्ञान और श्रुति ज्ञान यह दो ज्ञान विना और चीजोंकी मददके बिलकुल नहीं होते। यह दो ज्ञान एकेन्द्री जीवसे लेकर मन सहित पंचेन्द्री जीव तक सब जीवोंके कमती बढ़ती पाये जाते हैं।

अवधि ज्ञान जन्मते ही देवनारकी और तीर्थङ्करोंके पाया जाता है लेकिन औरोंको इसके पानेके लिये आत्मध्यान करना होता है। मन पर्य्यय ज्ञान और केवल ज्ञान यह दो ज्ञान बिलकुल आत्मध्यान करने ही से मनुष्य जन्मधारी जीव हीको होते हैं। एक जीवके एक वक्तमें कमतीसे कमती एक और ज्यादासे ज्यादा ४ ज्ञान होते हैं। यदि एक ज्ञान होगा तो केवलज्ञान ही होगा, क्योंकि जिस समय केवलज्ञान होता है उस समय पूर्ण ज्ञान हासिल होजाता है फिर और ४ प्रकारके ज्ञानकी आवश्यकता नहीं होती है। दो होंगे तो मति और श्रुति होंगे। तीन होंगे, तो मति, श्रुति और अवधि या मनपर्य्यय और चार होंगे तो मति, श्रुति, अवधि और मनपर्य्यय होंगे।

हमारेमें मति और श्रुति यह दो ज्ञान ही मौजूद हैं और यह दोनों ज्ञान पांच इन्द्रिय और मनके आधीन हैं, क्योंकि हमारे आत्माका ज्ञान इतना मन्द है कि यह बिना इनकी सहायताके नहीं देख सकता। जैसे कि कमती देखनेवालेको चश्मेकी सहायताके बिना ठीक नहीं मालूम पड़ता और जैसे चश्मेमें यदि कुछ दोष हो जाय तो देख न सके व कम देख सके व और का और देखे। इसी तरह यदि पांच इन्द्रिय व मन जो बिगड़े हों व किसीमें दोष होय तो उनके द्वारा भी जो जानना होगा वह कमती बढ़ती औरका और व नहीं जानना होगा। यही कारण है कि वृद्ध अवस्थामें इन्द्रियोंको शिथिलता होनेपर जाननेमें भी कमी हो जाती है और इन्द्रिय और मनके ठीक रहनेसे जानपना भी ठीक होता है। जैसे जितना तेज चश्मा होगा उतना तेज दिखलाई देगा और जितना मन्द होगा उतना ही मन्द प्रगट होगा। अब प्रश्न केवल इतना ही है कि ऐसे जीवोंका ज्ञान इतना मन्द क्यों होरहा है? उसके लिये ऊपर लिखे अनुसार फिर भी कहना होता है कि एक प्रकारका मल है जो अनादिकालसे हमारी आत्मज्योतिको प्रगट नहीं होने देता।

चौथा अध्याय।

अजीवतत्त्व।

'अजीव' उसे कहते हैं जो जीव नहीं अर्थात् जिस वस्तुमें अपने आप चेतनता याने देखने जाननेकी शक्ति नहीं। अजीव पांच प्रकारके जैनमतमें कहे हैं। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

यह लोक सब जगह छः द्रव्योंसे भरा हुआ है। वह छः द्रव्य ऊपर कहे हुए पांच तरहके अजीव और एक जीव द्रव्य है।

इन पांच अजीवोंमें धर्म, अधर्म, आकाश और काल तो बिलकुल अमूर्तिक हैं। सिर्फ पुद्गल ही मूर्तिक है।

इस जगतमें जितनी वस्तुएं इन्द्री गोचर हो रही हैं सब पुद्गल ही हैं।

हमारा बहुत बड़ा सम्बन्ध पुद्गलसे रहता है इस कारण पहले पुद्गल नामा अजीव ही के भेदोंका वर्णन प्रगट किया जाता है।

पुद्गल छः प्रकारके होते हैं—(१) सूक्ष्म सूक्ष्म (२) सूक्ष्म (३) सूक्ष्म स्थूल (४) स्थूल सूक्ष्म (५) स्थूल (६) स्थूल स्थूल।

सूक्ष्म सूक्ष्म पुद्गलका एक परमाणु होता है याने इतना छोटा हिस्सा कि जिसका फिर भाग न हो सके।

सूक्ष्म-कर्म-वर्गणाके पुद्गल हैं जिनसे बंधा हुआ यह आत्मा संसार-चक्रमें घूमा करता है और जिनके छूट जानेसे यह जीव मुक्त कहलाता है।

सूक्ष्म-स्थूल वह चीज है जो कि देखनेमें सूक्ष्म है याने चर्म नेत्रोंसे नहीं दिखलाई पड़ती, परन्तु अपने कार्यमें बहुत स्थूल है याने काम उसका बहुत बड़ा मालूम होता है। जैसे शब्द (आवाज) खुशबू जो कि देखनेमें नहीं आते परंतु काम इनका साक्षात् प्रगट है।

स्थूल-सूक्ष्म वह पुद्गल है जो देखनेमें बहुत मालूम हो पर सूक्ष्म इतना कि आप उसे हाथसे पकड़ नहीं सकते जैसे चांदनी, धूप, छाया आदिक।

फल पकड़ाएगा, दुखी होगा, तो अवश्य उसके उस समयकी भावोंने तीव्रता व मंदताके अनुसार उसी जातिके परमाणुओंका बंधन होगा जो कि आगामी फिर कभी फल देनेके संमुख होवेंगे। यह कर्मोंका चरखा उस सूत बटनेके चरखेके समान है जो कि एक तरफसे खुलता जाय और दूसरी तरफसे बंधता जाय। कर्म चरखेका खोलनेवाला बांधनेवाला एक जीव ही है। यदि यह प्रयत्न करे तो बंधे कर्म बिना रस दिये ही झड़ जांय और नए कर्म बंधे ही नहीं।

यहां पर इतना कह देना भी अनुचित न होगा कि यह संसारी जीव बिल्कुल कर्मोंके वश नहीं है। यदि यह प्रयत्न करे तो पहिलेके कर्मोंको अपने फल देनेके पहिले ही दूर कर सकता है तथा उनके जोर घटा सकता है और उनका जोर बढ़ा भी सकता है। इसका वर्णन "निर्जरा" तत्वमें किया जायगा।

हम यहांपर अपने उन भाइयोंका ध्यान इस विषय पर आकर्षण करते हैं कि जो कर्मोंके आधीन अपनेको मानकर निरुद्यमी रहते हैं। जैन मतका कभी यह सिद्धांत नहीं है कि हम कर्मोंके ही आधीन हैं। जैन मतके सिद्धांतको जैसा ऊपर वर्णन किया गया है माननेवाले सदा उद्यमके घोड़ेपर सवार रह कर कर्मोंको अपने ही वशमें समझ कर अपनी आत्म–उन्नतिकी ओर दत्तचित्त रहते हैं। जैनमत कहता है कि जहां आलस्य है वहां पाप है। श्री उमास्वामी कृत तत्वार्थसूत्रमें हिंसाका भेद इस प्रकार लिखा है कि प्रमादके योगसे जो प्राणोंका नाश करना है वह हिंसा है। आलसी पुरुष न खानेमें, न पीनेमें, न उठानेमें, न धरनेमें, न

बात करनेमें किसी ही काममें उचित यत्न न रखनेके कारण जीव हिंसाके पापके भागी होते हैं। जो भाई जिनेन्द्र दर्शन करनेका उद्यम किंचित् भी न करने पर और पूछने पर यह जवाब दे देते हैं कि भाई क्या करें हमारे भाग्य हीमें नहीं जो थोड़ीसी भी फुरसत मंदिर आनेको मिले वे लोग और भी ज्यादा पापके भागी होते हैं। इस विषयका विशेष वर्णन जानना हो तो श्री पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय ग्रन्थकी स्वाध्याय करके जान सकते हैं।

यहांपर यदि कोई प्रश्न करे कि कर्म वर्गणाके पुद्गल मूर्तिक हैं और आत्मा अमूर्तिक है अतः किस प्रकार अमूर्तिकको मूर्तिक घेर सकता है? इसका समाधान इस प्रकार है कि यह संसारी जीव अपनी वर्तमान दशामें अमूर्तिक नहीं किंतु मूर्तिक है, क्योंकि अनादिसे कर्मों करके मिला हुआ है, उसी कर्मके साथमें और कर्म आकर मिल जाते हैं, शुद्ध जीव कर्मोंसे संमिलित नहीं हो सकता। जिस समय जीवके भाव अपने स्वभावसे भिन्न होते हैं उस समय कर्म वर्गणाके परमाणुओंको जो कि तीनों लोकमें भरे हैं यह संसारी जीव आकर्षित कर लेता है। इस लिये कर्मके फंदोंसे छूटना ही इस जीवका परमहित है। यह कर्म आठ ८ प्रकारके होते हैं—

(१) ज्ञानावरणी (२) दर्शनावरणी (३) अंतराय (४) मोहनी (५) आयु (६) नाम (७) गोत्र (८) वेदनी।

इनमेंसे पहलेके ४ कर्म घातिया कहलाते हैं क्योंकि यह जीवके स्वभावको आवरण करनेवाले हैं और अन्तके ४ अघातिया, क्योंकि यह जीवके स्वभावको न ढककर केवल ऐसे कारण मिलाते हैं जो कि जीवको स्वभाव भूलनेके कारण होजाते हैं।

अध्याय पांचवा।

[आठ कर्म]

(१) ज्ञानावरणी कर्म

इस कर्मका यह स्वभाव है कि इसके सम्बन्धसे आत्माका ज्ञान प्रगट नहीं होता है तथा कम प्रगट होता है। यह पांच प्रकारका होता है।

(१) मतिज्ञानावरणी-जो मति ज्ञानको न होने दे। मति ज्ञान वह ज्ञान है जो कि पांच इन्द्री और मनके द्वारा किसी पदार्थको जाने। जैसे हम पीली वस्तुको आंख इन्द्रीसे देखकर उसके और लक्षण जानकर यह निश्चय करते हैं कि यह सोना है पीतल नहीं। यह सब ज्ञान 'मतिज्ञान' है। मतिज्ञानावरणी कर्मके कमती बढ़ती होनेके कारण जीवोंकी साधारण बुद्धि (Common Sense) कमती बढ़ती होती है। इसके ३८८ भेद हैं जिनका वर्णन श्री सर्वार्थसिद्धिजी ग्रन्थसे जानना योग्य है।

(२) श्रुति ज्ञानावरणी-जो श्रुति ज्ञानको न होने दे। श्रुति ज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है अर्थात् पदार्थोंका विशेष हाल व भेद मालूम करना यह श्रुति ज्ञानका विषय है। ११ अङ्ग १४ पूर्वका ज्ञान सब श्रुति ज्ञान है।

(३) अवधि ज्ञानावरणी वह ज्ञान है जो अवधि ज्ञानको न होने दे। अवधि ज्ञान वह ज्ञान है, जिसके द्वारा तपस्वी मुनि अपने व और जीवोंके पूर्व जन्मके चरित्रोंको व आगामी चरित्रोंको विचार करनेसे मालूम करते हैं-यह ज्ञान रूपी पदार्थों ही को ज

सकता है। यह ज्ञान देव और नारकियोंके भी होता है जिससे वे अपने पूर्व भवका वृत्तांत विचार करनेसे जान लेते हैं।

(४) मनपर्यय ज्ञानावरणी–मनपर्यय ज्ञानको नहीं होने देती। मनपर्यय ज्ञान वह ज्ञान है जो कि दूसरोंकी मन सम्बन्धी सूक्ष्म वार्ताओंको व सूक्ष्म पुद्गल द्रव्योंके चरित्रको जान लेता है।

केवल ज्ञानावरणी–केवल ज्ञानको नहीं होने देता। केवल ज्ञान वह ज्ञान है जो कि सर्व पदार्थोंकी कुल पर्यायोंको एक ही समयमें मालूम करता है।

इस प्रकार ज्ञानावरणी कर्मके पांच भेद हैं। इस कर्मके आश्रव होकर बंधने (अर्थात् कर्मोंका आकर आत्मासे सम्बंध करने) में नीचे लिखे कारण होते हैं। जब मन वचन और काय चलायमान होते हैं उसी समय कर्मोंका आगमन होता है। जैसे चुम्बक पत्थर लोहेको खींच लेता है इसी प्रकार सरागी मन वचन काय कर्मोंको खींच लेते हैं। ज्ञानावरणी कर्मके आने (आश्रव) के कारण–

१–प्रदोष–तत्वज्ञानकी कथनी करनेवालेसे व उत्तम ज्ञानके देनेवालेसे ईर्षाभाव रखना प्रशंसा न करके चुप रहना।

२–निन्हव–आप पदार्थोंका हाल जानता हुआ भी अगर कोई पूछे तो यह कहना कि हम नहीं जानते। भावार्थ अपने ज्ञानको दूसरेसे छिपाना।

३–मात्सर्य–अपनेको शास्त्र ज्ञान व पदार्थोंका ज्ञान होते संते और आप सिखावने योग्य होते संते भी दूसरेको न सिखलाना; यह भाव रखके कि यदि दूसरा सीख जावेगा तो मेरी बराबरी करेगा।

४-अन्तराय-ज्ञानके अभ्यासमें दियाकी उन्नतिमें विघ्न करना, विद्योन्नतिके कारणोंको न होने देना।

५-असादना-दूसरेके प्रकाश किये हुए ज्ञानको वर्जना याने मना करना।

६-उपघात-ठीक ठीक ज्ञानमें भी दोष लगाना। यह छः सो मुख्य कारण ज्ञानावरणी कर्मके आश्रवके हैं। इनके सिवाय विद्या पढ़नेमें आलस्य, शास्त्र व पुस्तक पढ़नेमें अनादर, आप बहुज्ञानी होकर गर्व करना, झूठा उपदेश देना, ज्ञानवानोंका अपमान करना, खोटे शास्त्रका लिखना, छपाना व बेचना इत्यादि जो जो बातें किसी प्रकारसे भी अपने व दूसरेके ज्ञानाभ्यासमें रोकनेवाली हैं वे सब ज्ञानावरणी कर्मके आश्रवके कारण हैं।

हे हमारे प्यारे जैनी भाइयों! देखो आपका प्राचीन शास्त्र क्या कहता है? क्या आप लोगोंको ज्ञानाभ्यासके कारणोंको जारी न करनेके कारण तथा विद्योन्नतिमें आलस्य करनेके कारण ज्ञानावरणी कर्मका आश्रव न होगा? क्या वह विद्वान् पंडित—जोकि आप ज्ञानसे परिपूर्ण होकर और अपने ज्ञानरूपी ज्योतिसे हमारे अज्ञानरूपी अंधेरेको मेटनेकी योग्यता रखनेपर भी आलस्य करते हैं तथा दूसरोंको वस्तुका स्वरूप अच्छे प्रकार यह समझ कर नहीं सिखलाते हैं कि यह ज्ञान कर हमारी बराबरी करेंगे व हमसे ज्ञानमें उच्च हो कर हमारे मानमें विघ्न करेंगे—ज्ञानावरणी कर्मके आश्रवके भागी नहीं हैं? क्या वह हमारे सुखसेवी (पिन्शनयाफ्ता) भाई जिनको सरकार पेन्शन इसी गरजसे देती है कि वे अपने अन्तके दिन सुख शान्तता पूर्वक बिताते हुवे अपने अनुभवसे हासिल किये ज्ञानको

दूसरोंको प्रदान करें, यदि ऐसा न करके अपने ज्ञानको छिपा कर रक्खें तो ज्ञानावरणी कर्मके आश्रवके भागी नहीं है?

हे हमारे जैनी भाइयो! आप अपने प्राचीन शास्त्रोंको पढ़कर उस पर चलनेकी कोशिश कीजिये। आपके शास्त्र जब पुकार पुकार कर कहते हैं कि "ज्ञान बिना करनी दुखदाई, अज्ञानी कोटि वर्ष तप तपे तो जितने कर्मोंका क्षय हो उतने कर्मोंको ज्ञानी एक क्षण भर तप करके नाश कर सकते हैं" तो क्यों आप ज्ञानशून्य अवस्था अपनी करते जाते हैं। आपने अपनेको अज्ञानी बनाकर अपना धर्म कर्म राज्य पाट सब गवां दिया। आपका रहा सहा व्यापार भी चला जारहा है। आप सरासर देखते हैं, पर कुछ उपाय नहीं करते। यह आलस्यका जमाना नहीं, चेष्टाका है। यदि उद्योगी पुरुष हो तो बहुत कुछ कर सकता है। आपकी खेती भी आपसे निकलकर आपसे ज्यादा जानकारों (अंग्रेजी व्यापारी)के हाथमें चली जारही है। आपकी रुईकी खेती कुछ दिनोंमें युरुपियन उद्योगी व्यापारियोंके हाथमें चली जायगी। आप यह देखते हुए भी कि आपके भाई जापान निवासी पुरुषोंने कितनी उन्नति अपनी की है, आप बिलकुल बे खबर हैं। जापानके लोग बौद्धमती हैं। वे भी जैन धर्मके माफिक ज्ञानको सर्वोत्तम समझते हैं। उन्होंने शास्त्रानुसार आज्ञाको मान ज्ञानको इतना बढ़ाया कि ५० वर्षके भीतर भीतर कुल सौदागरीकी चीजें (दियासलाई, बटन, सुई, कैंची, कपड़ा इत्यादि रोजकी कामकी चीजें) जो पहले विलायतसे मंगाते थे अपने घरमें प्रस्तुत करने लगे। भाइयो! जापानकी तरक्कीका केवल कारण विद्याका प्रचार" मि० धर्मपाल ता० १८ अप्रैल १९[illegible]

"ऐडवोकेट" में लिखते हैं कि जापानकी तरक्कीका असली कारण विद्याका प्रचार है। जापानमें कोई भी अनपढ़ बच्चा नहीं है। "There are no illiterate children in the land of the Rising Sun" यहांके अनाथ बालकोंकी यहांकी म्युनिसिपेलिटी और सर्कार दोनों बड़ी खबरगीरी रखते हैं। छोटे छोटे बालकोंको कारीगरी सिखलाई जाती है। मि० धर्मपाल कहते हैं कि सन् १८९९ में जापानके लोग मुश्किलसे १ गलास लेम्पकी चिमनी बना सकते थे। जब कि ३ वर्ष बाद सन १९०२ में देखा गया तो वे ६००० टनवाले जहाज अपने डौक घरोंमें तय्यार कर रहे हैं। बस भाइयो! प्रमादको छोड़कर अपना सर्वस्व ज्ञानकी उन्नतिमें खर्च कीजिए, तभी आप ज्ञानावरणी कर्मके संयोगसे दूर रहेंगे। अन्यथा यह कर्म बंधकर आपकी आत्माको निगोद आदि एकेन्द्री पर्यायमें ले जाकर अज्ञानी की भांति ही असमर्थ कर देंगे।

अध्याय छठा।

२–दर्शनावरणी कर्म।

यह वह कर्म है कि जिसके सम्बन्धसे आत्माकी दर्शन शक्ति प्रकट नहीं होती तथा कम प्रकट होती है। यह नव प्रकारका होता है—

(१) चक्षु दर्शनावरणी–वह कर्म है जिसके उदयसे यह प्राणी अंधा होता व कम दृष्टिवाला होता है।

(२) अचक्षु दर्शनावरणी–वह है जिसके द्वारा आंखको

छोड़कर और चार इंद्री जैसे नाक, कान, मुंह, स्पर्श इनके द्वारा मालूम करना न हो।

(३) अवधि दर्शनावरणी–अवधि दर्शनको न होने दे। अवधि दर्शन वह दृष्टि है कि जिसके द्वारा यह जीव अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावकी मर्यादा लिये रूपी पदार्थोंको देखे। जैसे कुछ भव पहिलेकी बातें अपनी तथा औरोंकी देखकर कहना।

(४) केवल दर्शनावरणी–आत्माको तीन लोक देखनेकी शक्ति अर्थात् केवल दर्शनको न होने दे।

(५) निद्रा–जिसके द्वारा नींद आवे।

(६) निद्रा–निद्रा–वह है जिसके द्वारा निद्रा बार बार आवे।

(७) प्रचला–वह है जिसके द्वारा बैठे बैठे ऊँघाई आवें।

(८) प्रचला–प्रचला–सोही ऊँघाई बार बार आवे।

(९) स्त्यानगृद्धि–वह है जिसके द्वारा सोता सोता उठ कुछ काम करे, फिर सो रहे और न जाने जो मैंने कुछ किया था। इस दर्शनावरणी कर्मका आश्रव होकर आत्माके साथ बंधनेमें यही छः कारण हैं जो कि ज्ञानावरणी कर्मके आश्रवके कारण हैं–

१। प्रदोष–अच्छी दृष्टि व इन्द्री विषय अवधि व केवल दर्शनादि–इनको दूसरोंमें उत्तम देखकर ईर्षा करना।

२। निन्हव–आप जिस पदार्थको देखा होय उसको दूसरोंसे छिपाना।

३। मात्सर्य–दूसरा शास्त्रादिक व और वस्तु देखना चाहे उसको न दिखाना न बतलाना–ऐसा भाव रखना कि देखकर मेरी हानि करेगा।

४। अन्तराय–दूसरेके पदार्थ देखनेमें विघ्न करना।

५। आसादना–दूसरेकी देखी हुई चीजको मना करना।

६। उपघात–ठीक ठीक देखी हुई चीजमें व देखनेकी शक्तिमें दोष लगाना। इसके सिवाय दूसरेके नेत्र उखाड़ना, पर की इन्द्रियोंको बिगाड़ना चाहना। अपनी दृष्टिका गर्व करना, दिनमें सोवना तथा आलस्य रूप रहना, सम्यक्-दृष्टिको दूषण लगावना, कुतीर्थकी प्रशंसा करनी, यतीतका घात करना तथा यतीश्वरोंको देख ग्लानि करनी इत्यादि दर्शनावरणी कर्मके आश्रवके कारण हैं। इन कारणोंको बचानेके लिये हमें अपने मन वचन काय पर काबू रखना चाहिये, क्योंकि जिस समय इनमेंसे कोई चलता है, कार्माण पुद्गल उसी समय उसके भाव (Thought) के प्रेरे उसके पास आते हैं और पुराने कर्मरूपी रज पर आकर जम जाते हैं।

प्यारे भाइयो! ऐसा जानकर कि आलस्य और प्रमाद हमारे दर्शनावरणी कर्मके आश्रवके कारण हैं, हमें इसे दूरकर अपने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थोंकी परिपूर्णतामें कटिबद्ध होना चाहिये। यदि हमारे वर्तमान जैन जातिके शास्त्रके मर्मी इस दर्शनावरणी कर्मके आश्रवके कारणोंको छोड़कर निरालसी हो पदार्थोंका भेद मालूम करें और पुरुषार्थकी ओर ध्यान करें तो थोड़े ही दिनोंमें हमारी इस जैन जातिका सुधार हो जाय। खेद इस बातका है कि हमारे भाई अपने महान् आचार्योंके सदुपदेशों पर गौर ही नहीं करते।

———

अध्याय सातवां।

३-वेदनी कर्म।

यह वह कर्म है जिसके उदय होनेसे प्राणियोंको ऐसी चीजों का मिलाप होता है कि जिनके सबबसे संसारमें मोह करनेवाला प्राणी सुख व दुख मालूम करता है, परन्तु जिसके मोह गल जाता है उसको वेदनी कर्मका उदय सुख व दुख अनुभव व विचार नहीं करा सकता है। यह वेदनी कर्म दो तरहका होता है—

१—साता वेदनी। २—असाता वेदनी।

साता वेदनी कर्मका जब उदय होता है तब देव गतिमें सुन्दर शरीर, सुन्दर देवांगना, अनेक ऋद्धियां व अनेक देव चाकर आदि चीजोंका मिलाप होनेसे सुख होता है और मनुष्य गतिमें राज्यादि विभव (दौलत,) निरोग शरीर, अनेक चाकर, सुन्दर स्त्री, अनेक मन मोहने महल आदि चीजोंका संयोग होकर सुख होता है। तिर्यंच (पशु) गतिमें यदि घोड़े, गौ, कुत्ते आदिकी योनिमें गए तो राजा महाराजा व धनवानोंके यहां रहना हुआ कि जहां कई नौकर उनकी हर वक्त सेवा किया करें व मालिक भी खुश होकर प्यार किया करें। इसी तरह समझ लेना चाहिये कि जो चीजें ऐसी हों कि जिनके मिलनेसे मोही जीव सुख मालूम करते हैं, वे सब चीजें साता वेदनी कर्मके उदयसे सुख देती मालूम होती हैं।

असाता वेदनी कर्मके उदयसे यह प्राणी नरकोंमें जाकर अनेक प्रकारके दुखकी चीजोंका मिलाप पाता है। जमीन बदबू-

ये छः बातें आप करे व दूसरेको करे व किसीकी ऐसी दशा देखकर खुश होय व इन्हींको मन वचन और कायसे करे यह सब भाव व क्रियाएं असाता वेदनी कर्मके आश्रवके कारण होती हैं। इनके सिवाय दूसरेकी बदनामी करना, चुगली खाना, कठोर परिणाम होना दूसरेके कषाय भावसे अङ्ग उपंग छेद डालना, डर दिखलाना, कषायभावसे अपनी तारीफ करना, दूसरेकी बुराई करना, दूसरोंके परिणाम दुखा देना, आरम्भ व परिग्रहमें बड़ा ममत्व रखना, विश्वासघात (फरेब) करना, स्वभाव टेढ़ा रखना, जीवोंको बेमतलब दण्ड देना, विष पीना या दूसरेको जहर पिलाना इत्यादिक जो जो पापसे मिले भाव हैं वह असाता वेद-नीके आश्रवके कारण हैं। जैसे जैसे भावमें विकार होते हैं वैसे ही कार्माण जातिके पुद्गल आकर आत्माके पुराने कर्मोंके साथमें मिल जाते हैं और कालान्तरमें फल देते हैं। इसी प्रकार साता वेदनीयके आश्रवके कारण यह हैं:—

(१) भूत और व्रतीपर अनुकम्पा—याने भूत कहिये सामान्य प्राणी [Coomon human begins] और व्रती कहिये व्रतके धारी श्राविकादि पर पीड़ा देखकर ऐसे परिणाम होना मानों यह दुख हम हीको हो रहे हैं और अपनी शक्तिभर देख दूर करनेका यत्न करना।

(२) दान—दूसरे जीवोंके भलेके लिये अपना धन आदिक देना सो दान है। सो यह दान ४ प्रकारका है, औषध दान– दवाईका दान, आहार दान–भोजनका दान, अभय दान–जिसका कोई रक्षक न होय उसको रक्षाका दान, विद्या दान–याने इल्म हुनरका दान।

(३) सरागसंयम–धर्मकी प्रीतिके सब संयम रखना याने अपने इंद्रिय और मनको रोकना और इसी लिये कुछ विरकुल छोड़नेवाली चीजोंको छोड़ना व कुछका प्रमाण याने गिन्ती करके रखना—या श्रावकके १२ व्रत पालना व अज्ञान तप करना व अकाम निर्जराके भाव होना। अकाम निर्जरा इसे कहते हैं कि कर्मोंका उदय होकर झड़ना, उस समय किसी बातकी कामना याने इच्छाका न होना।

(४) योग–मन वचन काय योगोंका शुभ रहना याने मनमें अच्छे भाव, वचन हित मित व कायको अच्छे कामोंमें लगाना।

(५) क्षांति–क्षमाभावका होना, याने क्रोध अर्थात् गुस्सेको न होने देना।

(६) शौच–लोभके भावोंका चित्तमें न होना।

यह मुख्य कर्के छः बातें साता वेदनी कर्मके आश्रवके कारणभूत हैं। इनके सिवाय अर्हंतकी पूजामें मन व बालक, वृद्ध (बुड्ढे), तपस्वी, व अनाथ [illegible] उनकी [सुश्रूषा] रहना, सरल परिणाम याने [illegible], विनय रूप रहना, मान याने घमंडका न करना इत्यादि अच्छे भाव व अच्छे वचन व अच्छी (शुभ) [illegible]—यह सब साता वेदनीय कर्मके आश्रवके कारण हैं।

प्यारे जैनी भाइयों! यह वेदनी [illegible] दूर न होगी तब कभी दुख कभी सुखको [illegible] होगी [illegible] जिनमें कि मोही मन लीन होकर [illegible] — पहचानता।

परन्तु निज आत्मस्वरूपका पहिचानना दूर रहे, हम कभी इस बातका विचार तक नहीं करते हैं कि साता वेदनी व असाता वेदनीका आश्रव किन किन बातोंसे होता है। इसी हमारे विचारके न होने हीके कारण हम बाल्य विवाह करते शंका नहीं करते, हम वृद्ध विवाह करते डरते नहीं, हम बालकोंको विद्वान् करनेकी परवाह नहीं करते, हम अपनी जातिके भाइयोंको दिन पर दिन अवनत दशामें प्राप्त होते हुए भी उन फिजूल खर्चों आदिक कारणोंको नहीं रोकते। क्या कहें, यदि कोई विद्वान् मंडली इन जैन धर्मके सम्यक् उपदेशोंको चित्तमें धारण करे तो उस मंडलीको कैसे सुख और शांतताकी प्राप्ति हो सो कुछ शुमारमें नहीं आ सकता।

अध्याय आठवा।

मोहनी कर्म।

यह वह कर्म है जिसके कारण यह जीव अपनेसे जुदी चीजोंमें ऐसा लुभा जाता है कि अपने आपको भूल जाता है। जैसे मदिरा (शराब) का नशा चढ़ता है, वैसे ही मोहका नशा होता है। इस कर्मके खास खास भेद दो हैं-(१) दर्शन मोहनी, (२) चारित्र मोहनी।

दर्शन मोहनी हमारे विश्वास (अकीदे) को मदकी दशामें रखती, याने जिसके कारण हमारा विश्वास ठीक नहीं होता।

चारित्र मोहनीके कारण हमारा आचरण मतवारेका ऐसा होता है, याने उचित व्यवहार अपने मन वचन कायका नहीं होता।

दर्शन मोहनी ३ प्रकार है—

(१) मिथ्यात्व, (२) सम्यक् मिथ्यात्व (३) सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व।

(१) मिथ्यात्व—जिसके उदयसे तत्वार्थका श्रद्धान न हो, याने जीव अजीव वगैरह तत्वोंके जो असली मतलब हैं उसपर यकीन न हो। इसी तरह इन तत्वोंके स्वरूपको बतलानेवाले देव, गुरु, शास्त्रका भी ठीक विश्वास न हो, रागी द्वेषी देवोंको देव माने रागी द्वेषी परिग्रहधारी गुरुओंको गुरु माने, हिंसाके पुष्ट करनेवाले व संसारसे प्रीति बढ़ानेवाले शास्त्रोंको शास्त्र माने, आदि मिथ्यात्व है।

(२) सम्यक् मिथ्यात्व—जीव अजीव आदि तत्वोंका व देव गुरु शास्त्रका कुछ तो श्रद्धान होय और कुछ न होय, याने सम्यक और मिथ्यात्व मिले हुए होंय। जैसे दही और गुड़का मिला हुआ स्वाद होता है।

(३) सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व—जिसके उदयसे सम्यक् बिगड़े तो नहीं परन्तु श्रद्धानमें मैलापन रहे। जैसे जीवादि तत्वोंका श्रद्धान तो है परन्तु कभी कभी निश्चयनयोंसे सर्व जीव एक ही स्वरूप हैं। इस बातको भूल जाना, भेद समझने लगाना, अथवा सर्व देवादिका स्वरूप तो मालूम है परन्तु कभी २ ऐसा भ्रम करना कि शांतिनाथजी शांतिके कर्त्ता हैं, पार्श्वनाथजी ही हमारे सुखके दाता, याने कभी कभी सर्व ही अरहंत देवोंको एकसा न समझना।

चारित्र मोहनीके २५ भेद हैं। इनमें नौ नोकषाय कहलाते हैं और १६ कषाय हैं।

नौ भेद नोकषायके यह हैं—

(१) हास्य–जिसके उदयसे हास्य (मखौल) मश्करी हो। (२) रति–जिसके उदयसे संसारी चीजोंमें रुचिवत लीन होजाय। (३) अरति–जिसके उदयसे कुछ सुहावे नहीं। (४) शोक–जिसके उदयसे किसी इष्टके वियोग होनेसे रंज करे। (५) भय–जिसके उदयसे दुःखकारी चीजसे डरे। (६) जुगुप्सा–जिसके उदयसे अपना दोष (ऐब) छिपावे और दूसरेके दोष देख परिणाम मैले करे याने नफरत करे। (७) स्त्री वेद–जिसके उदयसे स्त्री सम्बंधी भाव होंय। (८) पुरुष वेद–जिसके उदयसे पुरुष संबंधी भाव होय (९) नपुंसक वेद–जिसके उदयसे नपुंसक सम्बन्धी भाव होय।

१६ कषाय यह हैं–क्रोध (गुस्सा), मान (गरूर), माया (कपट दगाबाजी), लोभ (लालच) यह चार कषाय हैं। इन चारोंके चार चार भेद हैं याने अनंतानुबन्धी क्रोध व मान व माया व लोभ, अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध व मान व माया व लोभ, प्रत्याख्यानावरणी क्रोध व मान व माया व लोभ, संज्वलन क्रोध व मान व माया व लोभ। इस प्रकार १६ भेद हैं।

अनन्तानुबन्धी–वह हैं जिसके उदयसे अनन्त संसारका बंध हो, याने ऐसा गुस्सा व गरूर वगैरह होना कि जो तबियतसे कभी दूर न हो।

अप्रत्याख्यानावरणी–वह हैं जिसके उदयसे ऐसा गुस्सा, गरूर, लालच व मायाचार होना कि जिससे गृहस्थोके करनेके लायक श्रावकके १२ व्रत पालनेके भाव नहीं हों।

प्रत्याख्यानावरणी—वह है जिनके उदयसे ऐसा क्रोधादि होना कि मुनियोंके व्रतको नहीं पाल सके।

संज्वलन—वह है जिनके उदयसे ऐसा क्रोधादि होना कि अपने पूर्ण शुद्ध स्वभावमें बराबर लीन न रह सके।

यह २५ भेद चारित्र मोहनीके और ३ भेद दर्शन मोहनीके मिलाकर कुल २८ भेद मोहनी कर्मके हैं।

अब यह मोहनी कर्म किन किन बातोंसे आश्रव रूप होता है इसका विचार करना चाहिये।

भाइयो! दर्शनमोहनी कर्मके कारण यह हैं—(१) केवली (जो ४ घातिया कर्मोंको नाशकर केवलज्ञान हासिल करके तीन-लोक व अलोकको जानकर निराकुल हो गए) की निन्दा करनी या झूठा दोष लगाना। (२) जैन शास्त्र (जो कि दयामयी उपदेशसे भरा है) की निन्दा करना यानी झूठा दोष लगाना। (३) संघ (मुनियोंके संघ) की निन्दा करना व झूठा दोष लगाना। (४) देव (भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी कल्पवासी) की निन्दा करना व झूठा दोष लगाना याने कहना कि मांस भक्षी हैं। (५) धर्म (दयामयी धर्म) की निन्दा करना व झूठा दोष लगाना।

इन ५ बातोंकी तरफ मन वच काय व जैसे तथा अन्य पदार्थोंके सच्चे स्वरूपको मिथ्या कहने और माननेसे दर्शन मोहनी कर्मका आश्रव होता है।

कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) के होनेसे जो परिणाममें तेजी होना और इसी कारण वचन भी तेज निकालना व शरीरसे भी खोटे आचरण करना, इनसे चारित्र मोहनीके कषाय

वेदनी कर्मका आश्रव होता है। इसी तरह नोकषाय वेदनीका आश्रव इस भांति है कि दीन दुःखीकी हँसी करने व बेमतलब बकनेसे हास्यका (१), योग्य कामको मना नहीं करने व दूसरेकी पीड़ाको दूर करने इत्यादिसे रतिका (२), खोटी क्रियामें टालाह, दूसरेको पीड़ा देने व पापीकी संगति करनेसे अरतिका (३), आप रंजमें रहने तथा दूसरोंको रंज देने तथा दूसरेका रंज देखकर खुश होनेसे शोकका (४), आप भयमें रहना व दूसरेको डर दिखलाना व निर्दई होकर दुःख देनेसे भयका (५), दूसरेकी बुराई करने व अच्छे आचरणवालेसे घृणा (नफरत) करनेसे जुगुप्साका (६), अतिक्राम–तीव्रतासे परस्त्रीका आदर तथा राग भाव करने व देखने तथा स्त्रीवेसे भाव आलिंगनादिके करनेसे स्त्री (वेदका) (७), थोड़ा क्रोध तथा कम लोभ, स्त्री सम्बन्धमें अल्पराग, अपनी स्त्रीमें सन्तोष करने, ईर्षाका अभाव तथा स्नान, गन्ध, पुष्पमाला, आभरणसे अनादर इत्यादि होने पुरुष वेदका (८), चार कषायकी तेजीसे तथा गुह्य इन्द्रीके छेदनेसे, स्त्री पुरुषके कामके अंग छोड़ अन्य अंगोंमें व्यसनीपनेसे, शीलवंत व व्रतीको उपसर्ग देनेसे, परस्त्रीके संगके निमित्त तीव्र राग करनेसे नपुंसक वेद (९) का आश्रव होता है।

भाइयो! इस प्रकार मोहनी कर्मके भेद जानकर यह दृढ़ करना चाहिये कि जिसमें हमारा मोह सांसारिक पदार्थोंमें विशेष न लगकर अपने जीव उद्धारकी ओर लगे और हमको बहुतसे बेमतलब कामोंमें अपना धन व मिहनत व समय बरबाद करना न हो। हम देखते हैं कि हमारे जैनी भाई भी बिलकुल जैनमत

उपदेशके विरुद्ध चलकर सांसारिक इच्छाओंकी पूर्तिके लिये कुदेव जैसे शीतला, देवी, भवानी, भेरों, यक्षपाल आदिको मानते तथा संसारमें आशक्त विषयोंमें प्रतिघारक भिक्षकोंको भोजन देते व ब्रह्मकी ओरसे विमुख केवल ब्राह्मण जाति धारी विषयलीन ब्राह्मणोंको दान देनेसे अपना भला होना मानते हैं।

भाइयो! क्या कहा जाय! हमारे जैनी भाई इसो मोहनी कर्मके फन्दोंमें ऐसे उलझे हुए हैं, अतः झूठ बोलनेसे डरते नहीं, दूसरेका माल हजम करनेमें शंका करते नहीं, देव द्रव्यके गटक जानेमें कुछ पाप समझते नहीं, बालकोंका छोटी उमरमें विवाह कर उनको मिट्टीके खिलौने समझकर तमाशा देखनेमें आनंद मानते, तथा उनको विद्यारत्नसे विभूषित करनेकी परवा रखते नहीं, अपने समयको बेमतलब चौसर सतरंज आदिमें खोनेसे कुछ दोष मानते नहीं, अपने भाइयोंको दिनपर दिन हीन दीन देखकर उनके सुधार व सुखके लिये प्रयत्न करते नहीं, जैन जातिकी उद्धार करनेवाली भारत जैन महामंडलसे बेपरवाह रहकर उसको सहायता देते नहीं, व्यापारकी वृद्धि न्याय और सत्यसे होती है उसपर ध्यान रखते नहीं। विशेष क्या कहिये? उत्तम मनुष्य कुली कहला करके भी साधारण मनुष्य होनेकी इच्छा रखते नहीं। भाइयो! मोह छोड़ो। यह महा दुःखदाई है। इसकी संगतिसे जीवोंने त्रास पाई है। जिन्होंने इस मोहके साथ बुराई की है उन्हींने व्यापार, धन, मान्यता, देशोपकार और विचार आदिमें उन्नति पाई है।



अध्याय नवमां।

५-आयुकर्म।

आयुकर्म—वह कर्म है जिसके कारण यह जीव इस संसारमें नाना प्रकारकी योनियोंमें जा शरीरमें निवास कर भ्रमण करता हुआ कालक्षेप करता है।

इसके मुख्य ४ भेद हैं—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव।

(१) जिसके कारण नरकमें पैदा होकर नारकीके शरीरको धारण करे सो नरक आयु है। (२) एकेंद्री वृक्षादि जीवसे लेकर पंचेंद्री पशु पक्षी पर्यंत जलचर, थलचर, नभचर आदि योनियोंमें रहनेका कारण सो तिर्यंच आयु है। (३) मनुष्य भवमें रहनेका कारण सो मनुष्य आयु है। (४) देवकी योनिमें रहनेका कारण सो देव आयु है।

यह जीव अपने ही रागादि भावोंके द्वारा अपने ही आत्मापर पड़े हुए कर्मरूपी सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओंके द्वारा अन्य सूक्ष्म परमाणुओंके आकर्षित किये जानेपर इन्हींकी शक्तिसे प्रेरा हुआ स्वयं कभी नारकी, कभी तिर्यंच, कभी मनुष्य, कभी देव होजाता है, अर्थात् संसारकी चार विशेष गतियोंमें भ्रमण किया करता है।

इस आयुकर्मके जीवके साथ संबंधित होनेके कौन कौनसे कारण हैं इनका भी जानना आवश्यक है, अतः प्रथम नरक आयुरूपी कर्मोंके आश्रवका कारण कहते हैं। बहुत आरम्भ करना और परिग्रहमें बहुत ममत्व करना, सो नरक आयुके आश्रवके कारण हैं। प्रयोजन यह कि जिन जीवोंके ऐसे परिणाम रहते हैं

कि हम अपने पास धन, धरती आदि पदार्थोंको खूब बढ़ावें, चाहे वह धन, धरती आदि पदार्थ अन्याय, चोरी, मायाचारी, झूठ आदि उपायोंसे प्राप्त हों, अथवा चाहे सर्वस्व जाता रहे हमें तो लाभ हो जाय, कृष्णलेश्याके रंगके भाव जिनके होते हैं उनको अवश्य नरकगति प्राप्त होती है। जो जीवोंके घात, झूठ, चोरी और परिग्रहमें बहुत खुश होते हैं, ऐसे रौद्रध्यानी जीव नरक ही के पात्र हैं। नरकगतिमें पड़े हुए जीवोंको कितना व किस प्रकारका दुःख होता है, इसका वर्णन यहांपर न कर केवल इतना कह देना ही बस होगा कि असहाय और छोटे छोटे पशु पक्षियोंको जो कुछ दुःख आप अपनी आंखके सामने देखते हैं, इससे करोड़ गुना दुःख नारकियोंका कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। कर्मके परमाणुओंके बलसे यह आत्मा जिसका कि अपना स्वभाव ऊंचे जानेका है, नीचेकी ओर जाकर जन्म लेता है। जैसे आगकी लौ, जिसका स्वभाव ऊंचे जानेका है, पवनके बलके कारण इधर उधरको गमन करती है।

तिर्यच आयुके आश्रवका कारण मायाचार करना है, अर्थात् जो जीव धर्मके उपदेशक अपनेको प्रकट करके अपने जाति मतलबको लिये हुए उपदेश कर दूसरोंको झूठे मार्गपर लगाकर अनर्थ कराते हैं, ऐसे जीव पशु-पर्याय पाते हैं। जो दूसरेको झूठा दोष लगाकर उसका अपमान करके अपनेमें नहीं होते गुणोंको प्रकट कर अपना मान चाहते हैं, ऐसे कपोतलेश्याके रंगके परिणामवाले जीव पशुगतिके पात्र हैं। जो अपनी किसी अच्छी चेतन व अचेतन चीजके बिछुड़ने पर शोक करते हैं, व बुरी चेतन व

अचेतन चीजके पास रहते हुए रंज किया करते हैं, व आप रोगी होकर उस रोगके कारण उपाय तो नहीं बल्कि सोच किया करते हैं, व जिन जीवोंकी इच्छाए यह रहती हैं कि हमें मरनेके बाद खूब धन सम्पदावाली पर्याय प्राप्त हो, हम राजा महाराजा होकर खूब चैन उड़ावें, ऐसे आर्तध्यानी जीव पशुगतिमें आकर भूख, प्यास, गरमी, सरदी, घात आदिकी ऐसी ऐसी वेदनाएं सहते हैं कि हम उनका यदि विचार करें तो शरीरका रोयां रोयां कांप उठे। कर्मोंकी प्रेरणासे यह जीव स्वयं कभी वृक्ष होता है, कभी भौंरा, कभी चीटी, कभी हाथी, कभी सिंह, कभी बकरी, गाय आदि होता है। निश्चयसे अपने परिणाम ही अपनेको दुखदाई हैं।

मनुष्य आयुमें जानेके कारण यह हैं—

जो जीव थोड़ा आरम्भ मतलब भर करने ही से व थोड़ा मतलब भर परिग्रह (सामान) के धरने हीसे संतोषी रहते हैं जिनके चित्त दया भावसे भीजे हुए अन्यायसे डरते हैं, तथा जो दूसरेका बुरा नहीं चाहते हैं, संसारमे भी जिनके बहुत प्रीति नहीं होती, दान पूजा आदिकमें जिनके भाव विशेष लवलीन होते हैं, ऐसे धर्मध्यानी जीव मनुष्य आयुको प्राप्त करते हैं और जिनके चित्त कोमल होते हैं, दिलमें जरासा भी मान जिनके नहीं होता, ऐसे विचारवान प्राणी मनुष्य आयुका आश्रव करते हैं।

देव आयुके आश्रवके कारण इस भांति हैं- जो महाव्रती योगीकी दशाको धारणकर आत्मध्यान करते हैं व जो गृहस्थ श्रावक व्रतशीलको पालते हैं और अन्तमें संन्यास लेते हैं, ऐसे जीव अवश्य देवगति पाते हैं। अथवा जो किसी दूसरेके भयसे

व लाचार हो भूख, प्यास, खोटे वचन व गर्मी सर्दीकी बाधा सहते हैं और परिणाम जिनके कोमल होते हैं, ऐसे अकाम निर्जरावाले जीव भी छोटी जातिके देव होते हैं। जो अज्ञान तप करते हैं अर्थात् आत्माको नहीं जान कर व भावोंकी शुद्धताको न पहिचानकर शरीरको तरह तरह कष्ट देते हैं इस निश्चयसे कि इसके बाद अच्छी गति होगी, ऐसे जीव भी मरकर नीच जातिके देव होते हैं। जो जीव सम्यग्दृष्टी होते अर्थात् जिनके आपा परका अच्छी तरह ज्ञान और निश्चय होता है, ऐसे जीव स्वर्गवासी देव ही होते हैं। भोगभूमिके पैदा होनेवाले मनुष्य जो शील और व्रत नहीं पालते हैं अपने सरल स्वभावके कारण देवगतिमें गमन करते हैं। देवगतिमें इन्द्रियाधीन सुखकी बाहुल्यता है तौ भी उस स्थानमें मन सम्बन्धी अनेक दुःख हैं, जैसे ईर्षा, द्वेष, अपमानादिक।

भाइयो! यहां संक्षेपमें चारों आयुमें जीवोंको रखनेवाले कर्मोंके आश्रवका वर्णन किया है। विशेष जाननेकी इच्छा करनेवालोंको श्री सर्वार्थसिद्धिजीको भले प्रकार पढ़ना चाहिये। प्रयोजन कहनेका यह है कि मनुष्यभव पाकर हमको वह कर्तव्य करने योग्य है जिनसे हमारी अवस्था दिनपर दिन उच्च होती चली जाय, क्योंकि जीवन संसारमें थोड़ा है। यह थोड़ीसी आयु पाकर यदि हमने अपने आत्माको निर्मल करनेके यत्न नहीं किये अर्थात् संसारसे मुक्ति पानेकी चेष्टा नहीं की तो फिर हमारा सुधार कैसे होगा। यह मनन कदाचित जीवोंकी अज्ञानतामें दब जाय और हम बावलेकी तरह कर्मरूपी नशेसे

वह चित्तमें जिनसे क्रोध हुआ उनका नाश विचारते हैं, तब बायें कंधेसे एक तेजका पुंज निकलता है और वह उनको भस्म कर मुनिको भी भस्म कर देता है इस तेजस शरीरको बिजुर शरीरके समान कहा जा सकता है।

(च) कार्माण--एक प्रकारके बहुत ही महीन पुद्गलके परमाणु जो कि आत्माके साथ एक सूक्ष्म शरीर बनाये हुये संसार अवस्था-में सदा साथ रहते हैं। इन परमाणुओंकी कर्म संज्ञा है। भावोंके कारण इनका मेल होता है और यह जीवात्माके साथ रहते हुये समय समय पर अपना असर दिखलाया करते हैं जिससे मोहवान जीव सुख तथा दुख अनुभव करते हैं।

१ अंगोपांग-जिनके उदयसे अंग व उससे भाग बने, जैसे शरीरके आंख, नाक आदि। औदारिक-वैक्रयक, आहारक इन तीन प्रकारके शरीर ही के अंगोपांग होते हैं।

२ निर्माण-जिसके उदयसे आंख, नाक, कान आदि यथा स्थान होवें सो स्थान निर्माण तथा जिसके उदयसे किसी प्रमाण रूप होवें सो प्रमाण निर्माण।

९ बन्धन-जिनके उदयसे पांच प्रकारके पुद्गल परमाणुओंका परस्पर अपने अपने शरीर रूप बंधना होय।

५ संघात-जिनके उदयसे पांच आकारके शरीर रूप पुद्गलके परमाणु आपसमें अपने अपने शरीर रूप एकसार मिल जांय।

६ संस्थान-जिनके उदयसे शरीरका आकार [डीलडौल]

(क) समचतुर संस्थान–आंख, नाक, कान, मुंह, हाथ, पैर-का आकार मुनासिब सुन्दर बननां।

(ख) न्यग्रोध परिमंडल संस्थान–शरीरका आकार ऊपर बड़ा और नीचे छोटा हो। जैसे बड़ वृक्ष।

(ग) स्वाति संस्थान–शरीरका आकार नीचे चौड़ा ऊपर सकुचनक।

(घ) कुब्जक संस्थान-पीठ–बीचमें बड़ी ऊपर नीचे हलकी हो। इसको कुबड़ापन भी कहते हैं।

(च) वामन संस्थान–हाथ पैर छोटे हों उदर मस्तक बड़ा हो अर्थात् बौनापन हो।

(छ) हुंडक संस्थान–शरीरके सब अंग उपंग नीचे ऊंचे बेढ़ंगे हों।

६ संहनन–जिनके उदयसे हाड़ोंका विशेष बंधन हो। यह भी ६ प्रकारका है—

(क) वज्रऋषभनाराच संहनन–जिस शरीरमें संहनन कहिये हाड़, ऋषभ कहिये नशके वेठन, नाराच कहिये कीले, यह तीनों वज्रमय कठोर हों।

(ख) वज्र नाराच संहनन–जिसमें हाड़ और कीले वज्रमय हों पर नशके बन्धन वज्रमय न हों।

(ग) नाराच संहनन–जिसमें हाड़की सन्धि कीलोंसे कीलित हो।

(घ) अर्धनाराच संहनन–जिसमें हाड़की सन्धिमें कीले आधे हों एक तर्फ हों पर दूसरी ओर न हों।

(च) कीलक संहनन–जिसमें हाड़की सन्धि छोटे कीलोंसे मिली हो।

(छ) असंप्राप्तासृपाटिक संहनन–जिसमें हाड़की सन्धिमें अन्तर (फरक) हो। चौगिर्द बड़ी छोटी नसें लिपटी हों, मांसादिकसे छाई हो। यह सर्व संहनन मनुष्य और तिर्यंचके होते हैं, देवनारकियोंके नहीं, क्योंकि उनके हाड़ नहीं होते हैं।

८ स्पर्श–जिनके उदयसे शरीरके स्पर्श (छूने) के गुण पैदा हों। यह ८ प्रकारका है–कर्कश, कोमल, भारी, हलका, चिकना, रूखा, ठंडा, गरम।

५ रस–जिनके उदयसे शरीरमें रस पैदा हो। ये पांच प्रकारके हैं–तीख, कडुवा, मीठा, खट्टा, कषयला।

२ गंध–जिनके उदयसे शरीरमें गंध हो। यह दो प्रकारका है–एक सुगंध, एक दुर्गन्ध।

५ वर्ण–जिनके उदयसे शरीरमें रंग पैदा हो। यह पांच प्रकारका होता है–काला, नीला, सफेद, लाल, हरा।

४ आनुपूर्वी–जिनके उदयसे आनुपूर्वी हो। आनुपूर्वीका प्रयोजन यह है कि मरण होनेके पीछे जब तक यह शरीर धारण करनेके लायक पुद्गल नहीं लेवे तब तक आत्माका पहिले शरीरका सा आकार बना रहता है। यह आनुपूर्वी अवस्था अधिकसे अधिक ३ समय तक रहती है। यह ४ गतिकी अपेक्षा ४ प्रकारकी होती है। जैसे कोई मनुष्य मर कर देव गतिको पाता हो तब जब तक देवमई पुद्गल नहीं लेवे तब तक कर्म सहित आत्माका आकार मनुष्य शरीरके सदृश रहना सो देवगत्यानुपूर्वी है।

यह ६९ पिंड प्रकृति कहलाती है। अब आगे २८ अपिंड प्रकृति कही जाती हैं।

१ अगुरुलघु-जिसके उदयसे देह न लोहेके पिंडकी तरह भारी हो और न आककी फईकी तरह हलकी हो।

[यहां अगुरुलघु जो द्रव्यका स्वभाव है उससे प्रयोजन नहीं।]

१ उपघात-जिसके उदयसे अपने शरीरसे आपको घात करे-जैसे बड़ा सींग, लम्बा स्तन, बड़ा पेट।

१ परघात-जिसके उदयसे ऐसा अंग हो जिससे दूसरेका घात हो। जैसे तीक्ष्ण सींग व नख, बिच्छूका डंक आदि।

१ आताप-जिसके उदयसे आतापमय शरीर पावे। जैसे सूर्यके विमानमें पृथ्वी कायिक जीव। इन जीवोंको स्वयं धूपकी गरमी नहीं मालूम होती जब कि दूसरोंको बहुत आताप होता है।

१ उद्योत-जिसके उदयसे उद्योत रूप शरीर पावे। जैसे चन्द्रके विमानमें पृथ्वीकायिक जीव।

१ उच्छ्वास-जिसके उदयसे श्वासोच्छ्वास आवे।

१ विहायो गति-जिसके उदयसे आकाशमें गमन हो।

१ प्रत्येक शरीर-जिसके उदय होनेसे एक आत्मा एक शरीरको भोगे।

१ साधारण-जिसके उदयसे बहुत जीव भोगने योग्य एक शरीर पावे।

१ त्रस-जिसके उदयसे दो इन्द्रीसे पंचेन्द्री तकमें उपजे।

१ स्थावर-जिसके उदयसे १ इन्द्री पैदा होती हो।

१ सुभग-जिसके उदयसे दूसरेको अच्छा मालूम हो।

१ दुर्भग–जिसके उदयसे रूपादि सुंदर गुण होनेपर भी दूसरेको बुरा मालूम पड़े

१ सुस्वर–जिसके उदयसे शब्द सुहावना निकले।

१ दुस्वर–जिसके उदयसे बुरा असुहावना शब्द निकले।

१ शुभ–जिसके उदयसे मुंह, हाथ, पैर आदि शरीरके अंग सुंदर हों।

१ अशुभ–जिसके उदयसे मस्तक मुख आदि असुन्दर (बदसूरत) हों।

१ सूक्ष्म–जिसके उदयसे ऐसा महीन शरीर पावे जो जमीन, पहाड़, आग, जल, कपड़ा आदिमेंसे होकर निकल जाय-रुके नहीं।

१ बादर–जिसके उदयसे रुकने व रोकनेवाला शरीर पावे।

१ पर्याप्त–जिसके उदयसे जिस पर्यायमें जाय उसके अनुसार शरीरके भाग पूर्ण करानेकी शक्ति पावे।

१ अपर्याप्त–जिसके उदयसे पर्याय सम्बन्धी शरीरके भागोंको पूरा करनेकी शक्ति न पाकर पौने दो घड़ीके भीतर मरण कर जाय।

१ स्थिर–जिसके उदयसे रस धातु उपधातु अपने अपने स्थानमें दृढ़ हों।

१ अस्थिर–जिसके उदयसे रसादि दृढ़ न हो।

१ आदेय–जिसके उदयसे प्रभावान (चमकदार) शरीर हो।

१ अनादेय–जिसके उदसे प्रभारहित शरीर हो।

१ यशस्कीर्ति–जिसके उदयसे गुण प्रकट हो।

१ अयशस्कीर्ति–जिसके उदयसे अवगुण प्रकट हो।

१ तीर्थङ्कर–जिसके उदयसे तीर्थङ्कर पदका शरीर हो।

यह २८ अपिंड प्रकृति हैं।

सब मिलकर ९३ प्रकृति नाम कर्मकी हैं। अब यह देखना चाहिये कि यह नाम कर्म क्योंकर संसारी जीवोंके बंधते हैं कि जिनके उदयसे ऊपर कही अवस्थायें भोगनी पड़ती हैं, क्योंकि यह "कर्म" का नियम कारण और कार्यके आधीन है। इसीको Cause and effect कहते हैं और इन कर्मोंका बन्धन राग और द्वेषसे होता है जैसा कि "Mr. C. W. Leadwater" का कथन है।

" If a man has within him only pure, high, and unselfish desires and emotions, he will chiefly set into vibration the more refined matter of that astral body; if on the contrary his desires, emotions and passions are coarser and selfish, almost the whole of them will express themselves in the lower, denser, grosser parts of that astral vehicle. "

भावार्थ–अच्छे विचारोंसे शुभ और बुरे विचारों से अशुभ कर्म्म बँधते हैं। पस वह कर्म्म समय समयपर उदय आकर अपना रस देते रहते हैं इसीको कर्मफल कहते हैं। यही कर्म-फल यदि रागद्वेष सहित भोगा जाता है तो आगामी कर्म बंधनका कारण हो जाता है। इस प्रकार संसारके मोही जीव एक ओरसे कर्मका उदय फल पाते हैं, दूसरी ओर कर्म बांधते जाते हैं जो

रस देते हैं। यही "कारण और कार्य" का नियम संसारी प्राणियोंको सुख दुखका हेतु है।

नाम कर्मके आश्रव तथा बन्धके कारण यह हैं। मन, वचन, और कायके कुटिल अर्थात् टेढ़े रखनेसे अशुभ नाम कर्मका आना होता है। जैसे मिथ्यात धरना, चुगली खाना, खोटी वस्तु अच्छीमें मिलाकर बेचना, खोटी कसम खाना, मद करना, नकल चिढ़ाना, दूसरेके बुरे अंग देख खुश होना आदि। इसी प्रकार मन वचन कायको सरल रखनेसे शुभ नामकर्मका आश्रव होता है। जैसे धर्मात्माको देख खुश होना, प्रमाद न करना आदि।

पाठक! अपने परिणामों हीके आधीन हमारा भाग्य (Destiny) बनता है जिसको कर्म कहते हैं। इस लिये हमको अपने परिणाम निर्मल रखने चाहिये। तथा अन्धे, लूले, कुबड़े, काने आदि होनेसे बचनेके लिये हमको अपने वचन और कायकी चेष्टा भी ठीक ठीक रखनी चाहिये।

तीर्थंकर नाम कर्मका बंध उस समय होता है जब सोलह कारण भावनाका विचार किया जाता है। इन भावनाओंका वर्णन जैन शास्त्रोंसे देखकर मालूम कीजियेगा।

अध्याय ग्यारहवां।

७—गोत्रकर्म।

यह वह कर्म है जिसके उदयसे यह जीवात्मा ऐसे कुलका संयोग पावे जिससे इसको दुःखकी प्राप्ति हो। यह दो तरहका होता है।

१ उच्च गोत्र–अच्छे चारित्रवाले लोकमान्य कुलमें जिसके उदयसे जन्मे।

१ नीच गोत्र–खोटे आचरणवाले लोकनिंद्य कुलमें जिसके उदयसे पैदा हो। जहां आपको भी हिंसा, चोरी आदि दुष्ट कर्म करनेका समागम सहजमें मिल जाय।

इस कर्मके आश्रव होकर आत्माके साथ मिलनेमें नीचे लिखे कारण हैं।

१ परनिन्दा, आत्मप्रशंसा–दूसरेमें अवगुण हों या न हों, परन्तु किसी अपने विषयके मतलबसे दश आदमियोंमें उनकी बुराई करनी और अपनेमें गुण हों या न हों, किसी अपने विषय कषायके मतलब (धनादिका लोभ) से दश आदमियोंके सामने अपनी तारीफ करनी।

२ पर–सत–गुणाच्छादन आत्म असत्गुणाच्छादन–दूसरेमें गुण होते हुए भी जाहिर न हों ऐसी चाह व कोशिश करना, अपनेमें अवगुण होने हुए अवगुणोंके ढकने और न होते गुणोंको प्रकट करनेकी चाह व कोशिश करना।

इसके सिवाय अपनी जाति, कुल, रूप, बल, विद्याका घमंड करना, दूसरेकी हंसी करना, व देव गुरू धर्म व अपनेसे बड़ोंकी विनय, सत्कार नहीं करनी, यह सब नीच गोत्रके आश्रवके कारण हैं।

इसके विरुद्ध कारणोंके होनेसे उच्च गोत्र रूपी कर्मोंका आश्रव होता है। जैसे दूसरेके गुणोंकी विनय व प्रशंसा, अपनेमें गुण होते हुए भी विनय व प्रशंसा नहीं चाहना, जैसे भस्मके नीचे दबी अग्नि रहती है। इस तरह रहकर अपने बड़प्पनको अपनेसे प्रगट न करना।

अध्याय बारहवाँ।

८—अन्तराय कर्म।

यह वह कर्म है जिसके उदय आजानेसे बनते व सोचे हुए काममें विघ्न व विगाड़ पड़ जाता है। इसके ५ भेद हैं—

१ दानांतराय–जिसके उदयसे देनेकी चाहना करे व कोशिश करे, परन्तु दे न सके।

२ लाभांतराय–जिसके उदयसे लाभ होना चाहे व कोशिश करे, पर लाभ न हो सके।

३ भोगांतराय–जिसके उदयसे संसारकी वस्तुओंको भोगनेकी चाहना करे व कोशिश करे, पर वह भोगनेमें न आवें।

४ उपभोगान्तराय–जिसके उदयसे संसारकी उपभोग करने योग्य वस्तुओंको काममें लानेकी चाहना व कोशिश करे, पर काममें न ला सके।

[भोग–उन वस्तुओंको कहते हैं जो एक बार काममें आवे फिर किसी कामकी न रहें। जैसे भोजन, सुगन्ध आदि। उपभोग उन वस्तुओंको कहते हैं जो बारबार काममें आवें जैसे मकान, कपड़े आदि]

५ वीर्यांतराय—जिसके उदयसे किसी कामके करनेका उत्साह करे पर वह उत्साह काम न कर सके।

इस अंतराय कर्मके आने और आत्माके साथ बन्धनेमें कारण विघ्नका डालना है। कोई दान देता हो व देनेकी इच्छा करता हो उसको किसी न किसी प्रकार दान देनेसे रोकनेकी चाह व

कोशिश करना, कोईको लाभ होता हो उसको लाभ न होने देनेकी चाह व कोशिश करना, दूसरेके भोगने व उपभोगने योग्य वस्तुओंको बिगाड़नेकी चाह व कोशिश करना दूसरेकी शक्ति व उत्साहको बिगाड़नेकी चाह व कोशिश करना यह सब अन्तराय कर्मके आश्रवके कारण हैं। इसके सिवाय और जितने ऐसे ऐसे काम हैं जिनके करनेसे हमारा व हमारे आधीन स्त्री व बालकोंका बिगाड़ होता है, वे सब अंतराय कर्मके आश्रवके कारण हैं। जैसे लड़के व लड़कियोंको विद्या न पढ़ानेसे उनके ज्ञान प्रगट होनेमें विघ्न पड़नेसे, तथा बालकोंकी शादी छोटी उम्रमें कर देनेसे जिससे उनका मन विद्यालाभ करते करते रुक जाय, व अपने आधीन नौकर चाकर व प्रजाको धर्म सेवनमें विघ्न डालनेसे अंतराय कर्मका आश्रव होता है। इसी प्रकार विद्यालय, औषधालय, भोजनालय आदि धर्मकार्योंमें उन्नति न चाहनेसे तथा बिगाड़के भाव रखनेसे तीव्र अंतराय कर्मका आश्रव होता है। जो धन यात्री लोग तीर्थयात्रामें तीर्थोंपर तीर्थके सुप्रबन्ध व उचित धर्मकार्यके लिये देते हैं उस धनसे सुप्रबन्ध न कर व उचित धर्मकार्यको न कर व्यर्थ डाले रखना व अपने काममें ले आना तीव्र अंतराय कर्मका आश्रव करनेवाला है।

इस तरह यह आठ प्रकारका कर्म हम संसारी जीव अपने ही भावोंके द्वारा बांधते हैं और आप ही उनके उदय आनेपर उनका फल भोगते हैं जैसे मदिरा हम आप ही पीते हैं और आप ही दुःख भुगतते हैं तथा बदहजमी करनेवाला भोजन हम आप ही खाते हैं और आप ही अनेक रोगोंको अपनेमें पैदा कर लेते हैं।

इस तरह ५+९+२+२८+४+९३+२+५=१४८ प्रकृति

मुख्य करके ८ कर्मोंकी हैं। पर इनके भेद यदि सूक्ष्म दृष्टिसे किये जावें तो और वेगिनती हो सकते हैं।

इस प्रकार यह कर्म सर्व पौद्गलिक हैं, जड़ हैं, हमारे ही किये हुये हैं, अजीव हैं।

अध्याय तेरहवा।

अन्य ४ द्रव्य।

धर्म द्रव्य वह है–जो जीव पुद्गलको चलनेमें इस तरह मदद करै जैसे मछलीको चलनेके लिये पानीकी जरूरत है, पानी मछलीको प्रेरणा नहीं करता है कि चलो किन्तु विना पानीके नहीं चल सक्ती। इसी प्रकार धर्म द्रव्य प्रेरणा करके जीव और पुद्गलको नहीं चलाता है किन्तु उदासीन सहायक होता है।

अधर्मद्रव्य–धर्मद्रव्यसे उल्टा काम करता है अर्थात् जीव पुद्गलको ठहरनेमें सहायक होता है; जैसे रास्तेमें जाते हुये मुसाफिरको वृक्षकी छाया सहायक होती है।

आकाशद्रव्य–जो कि जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल इन पांच द्रव्योंको स्थान दे।

कालद्रव्य–वह द्रव्य है जो अन्य द्रव्योंकी पर्याय व दशा पलटनेमें कारण रूप हो। यह दो प्रकारका है–व्यवहारकाल समय घड़ी घंटा आदि। निश्चयकाल–आकाशके एक एक प्रदेशमें कालका एक एक अणु जैसे रत्नोंकी राशि। इस द्रव्यका एक अणु दूसरे अणुमें एकमें एक होकर नहीं मिलता। इसीसे इस द्रव्यको अकाय कहते हैं।

प्रदेश उतने स्थानको कहते हैं जितनी जगहको पुद्गलका छोटासे छोटा अविभागी (जिसकी फिर भाग न हो सके) परमाणु रोकता है। इस १ प्रदेशवाले आकाशमें धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यका एक प्रदेश और कालकी एक अणु और पुद्गलके बहुतसे परमाणु आसक्ते हैं, इसी प्रकार जीवके शरीरमें छोटेसे छोटेमें बहुतसे अन्य शरीर धारी जीव आसक्ते हैं। इसीसे जीव व पुद्गल अनन्त हैं किंतु धर्म, अधर्म, आकाश, काल, एक एक द्रव्य हैं—जैसे १ दीपक एक कमरेमें जलानेसे रोशनीके परमाणु कमरे भरमें फैल जाते हैं किन्तु यदि दश दीपक उतने ही स्थानमें जलाये जांय तो उतने ही स्थानमें आ सकते हैं। यह परमाणु पुद्गलके स्थूल सूक्ष्म हैं जब इनके अणुओंमें यह शक्ति है तो सूक्ष्म व सूक्ष्म सूक्ष्म परमाणुओंमें व जीव द्रव्यमें यह शक्ति क्यों नहीं हो सकती है* इसी लिये एक जीवके एक प्रदेश भर स्थानमें अनन्ते कार्माण पुद्गलके परमाणु आ सकते हैं तथा एक निगोदिएके सबसे छोटे शरीरमें अनन्ते शरीरी जीव समा सकते हैं। इन द्रव्योंको जहां पाया जाय

---

* देखिए श्री पार्श्वपुराणजीको।

शिष्यप्रश्न—धर्म अधर्म काल अरु चेतन चारों दरव अरूपी गाए, तातें एक आकाश देशमें प्रभु सबके प्रदेश समाए। मूरतवंत अनंते पुद्गल हैं उस नभमें क्योंकर मांए, यह संशय समझाय कहो गुरुदास होय अब पूछन आये ॥

गुरु उत्तर—सोरठा—बहु प्रदीप परकाश, यथा एक मंदिर विषै। लह सहज अवकाश, बाधा कछु उपजे नहीं। त्योंही नभ प्रदेशमें पुद्गल मेघ अनेक, निराबाध निवसे सही, ज्यों अनन्त त्यों एक ॥

उनको ही लोक (दुनियां) कहते हैं। यह सर्व लोकमें हैं तथा इन द्रव्यों ही की पर्याय पल्टनसे नानाप्रकारके मनुष्य, जन्तु, वृक्ष, पहाड़, धातु, औषधि आदि पाई जाती हैं इन छहोंमें सबसे ज्यादा काम पुद्गल और जीवका है बाकी ४ द्रव्य केवल सहायता मात्र हैं।

इस प्रकार अजीव पांच प्रकारके होते हैं जिनमें चेतना न होनेपर भी अपने अपने स्वभावरूप कार्य करनेकी शक्ति होती है (इनका विशेष वर्णन जाननेके लिये हमें जैन शास्त्रोंके तो द्रव्यानुयोगके ग्रन्थ और यूरूपके विद्वानों द्वारा प्रकाशित पदार्थ विद्याके ग्रन्थ पढ़ने चाहिये)।

अध्याय चौदहवां।

आश्रव तत्व।

पुद्गलके कार्माण परमाणुओंका हमारी आत्माके प्रदेशोंके पास पास आनेको आश्रव कहते हैं। कर्मोंके आनेके ३ मार्ग हैं। मन, वचन, काय, इनको योग कहते हैं। जब यह हिलते हैं कार्माण परमाणुओंका आना होता है। यह दो प्रकारका होता है—

एक भाव आश्रव। दूसरा द्रव्य आश्रव।

मिथ्यात्, अविरत (पांच इन्द्रिय, मनके न रोकने अदया भाव) प्रमाद (आलस्य) कषाय (क्रोध मान माया लोभ) आदिके भाव अथवा दानादि शुभ कर्म करनेके भाव इत्यादि भाव जिनसे कि अशुभ व शुभ कर्म आते हैं उनको भाव आश्रव कहते हैं। जो कर्मरूपी पुद्गल आते हैं उनको द्रव्याश्रव कहते हैं। कर्म आठ प्रकारके हैं और उनके आनेके कौन कौनसे भाव हैं इनका वर्णन 'अजीव तत्व' में हो चुका है।

कर्म जो आकर आत्माके प्रदेशोंमें बन्ध जाते हैं उनको सांपरायिक आश्रव कहते हैं और जो आवें तो सही पर बंधे नहीं उनको ईर्यापथ आश्रव कहते हैं। जब अपने परिणाममें रागद्वेष, कषाय आदि होंगे तब अवश्य सांपरायिक आश्रव होगा किन्तु जब यह न होंगे और वचन व काय हिलनेसे कर्म आयेंगे जैसे कि केवल ज्ञानियोंके आते हैं तो उनके आगमनको ईर्यापथ कहते हैं। कर्म किन किन भावोंसे आता है इसका विशेष वर्णन गोमट्टसारके जीवकांड तथा कर्मकांडसे विशेष मालूम हो सकता है।



अध्याय १५ वा।

बंध तत्व।

कर्मोका बांधना ही वास्तवमें हमारे लिये संसारकी अवस्थामें रहनेका कारण है।

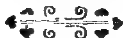
इनमें मुख्य कारण राग और द्वेष हैं।

जिस समय हम अपने पहलेके बंधे हुए कर्मोंका फल पाते हैं उस समय यदि हमारी आत्मा अपने परिणाम चलाकर उस फलको अच्छा व बुरा समझेगा तो उसी समय वह आत्मा कार्माण परमाणुओंको खींच लेगा जो अगाड़ी फिर कभी उदयमें आवेंगे— किन्तु यदि आत्मा उस फलमें अपना परिणाम राग व द्वेषरूप न करके समता रक्खे, तब वह कर्म अपना फल देकर चले जायंगे और वह आत्मा कर्मोंका बंधन न करेगा—जैसे किसी मनुष्यका पुत्र मर गया तब यदि उसका आत्मा शोकित होगा तब जितने तीव्र व मंद भाव होंगे उसी प्रकृतिके कार्माण परमाणुओंसे बंधन होगा।

किन्तु यदि शोकित न होकरके संसारकी क्षणभंगुरता देखता हुआ यह आत्मा समपरिणाम रक्खेगा अर्थात् किसी प्रकारकी हलनचलन इस वार्ताके होनेसे उसके परिणामोंमें न होगी तो वह आत्मा कर्मोंका बंधन नहीं करेगा।

१४८ प्रकारके जो मुख्य भेद आठ कर्मोंके दिखलाए गए हैं इसी बंधके द्वारा होते हैं—जिस जिस प्रकारका कर्म यह बांधता है उस उस प्रकारका रस उदय होनेपर पाता है। इस बातके अनेक दृष्टान्त जैन शास्त्रोंमें मिलेंगे। श्री रामचंद्रके भाई भरत-जीके पूर्वभवके चरित्रमें एक मुनिका वर्णन है कि उसने एक ऐसे उद्यानमें विहार किया जहां कि चारण रिद्धिधारी आचार्य्यने चौमासा किया था और जिस समय यह मुनि वहां पहुंचा वह विहार कर गए थे। उस उद्यानके निकटवर्ती नगरके लोग उसी दिन आचा-र्यके दर्शन करनेके लिये आए और इन्हींको आचार्य मान नमस्कार किया व धर्म सुना। तब इस मुनिने उन लोगोंको यह न बतलाया कि मैं वह आचार्य नहीं हूं जिसका नाम आप लेते हो। इतनी माया रखनेके कारण उसी मुनिको तिर्यंच गतिमें त्रिलोकमंडन हाथीकी पर्यायमें आना पड़ा।

जगतके जीवोंके तरह तरहके चरित्र दिखलाई पड़ते हैं कारण यही कि उनके पहलेके बांधे हुए कर्मोंका उदय है।



अध्याय १६ वा।

संवर।

जिन द्वारोंसे कार्माण परमाणुओंका आगमन आत्माके प्रदेशोंके पास होता है उन द्वारोंका रोकना सो संवर है। यह भी दो प्रकारका होता है—

१—भाव संवर—जिन भावोंके करनेसे आत्मा कर्मोको खींचे उन भावोंको रोकना सो भाव संवर है।

मिथ्यात रूपी भावोंके रोकनेके लिये सम्यग्दर्शन होनेकी, अविरत रूप भावोंको बन्द करनेके लिये देशव्रतकी तथा महाव्रतकी, प्रमादके नाश करनेको निरालसी ध्यानी मुनि होनेकी, क्रोध, मान, माया, लोभके बन्द करनेके लिये वीतराग भावोंकी, मन वचन काय योगोंको रोकनेके लिये निश्चल निज रूपमें थिरता होनेकी आवश्यकता है।

इसी संवरके पानेके लिये बुद्धिमानोंने यह हेतु बतलाये हैं।

(१) **गुप्ति**—मन, वचन, कायको वशमें रखना।

(२) **समिति**—यह पांच तरहकी है।

(क) देखकर चलना।

(ख) समझकर हित मित वचन बोलना।

(ग) शुद्ध निर्दोष भोजन लेना।

(घ) देखकर वस्तुओंको रखना व उठाना।

(ङ) देखकर मलमूत्र आदि डालना।

(३) **धर्म**—निम्न लिखित दश लक्षणवाले धर्मपर चलना—

(क) उत्तम क्षमा–क्रोधको वशमें करके निर्बलका भी अपराध विचार पूर्वक क्षमा करना।

(ख) मार्दव–घमंड किसी वातका न करके अपने भाव यह समझकर कोमल रखने कि आत्मा तो सब ही की निश्चयसे एकरूप है छोटा बड़ापन केवल शरीर सम्बन्धी है। सो इसके छूटनेका कोई समय नियत नहीं, यह शरीर नाश होने ही वाला है। इससे संसारकी चीजोंको लेकर मेरा मद करना व्यर्थ तथा हानिकारक है।

(ग) आर्जव–किसी प्रकारकी मायाचारी न करके परिणाम सरल रखना।

(घ) सत्य–स्वपरहितकारी सच वचन कहना।

(ङ) शौच–मन वचन कायकी पवित्रता (सफाई)

(च) संयम–इन्द्रियोंको वशमें रखना–जीव दया पालनी।

(छ) तप–मनको एक टिकाने करके आत्माकी शक्ति प्रगट करनेमें यत्न करना।

(ज) त्याग–दान देना व परिग्रह न रखना।

(झ) आकिंचन–परिग्रहकी ममता विलकुल न होना।

(ञ) ब्रह्मचर्य–स्त्री मात्रसे चित्त हटाकर अपना ब्रह्म जो आत्मा उसके बीचमें उसको स्थिर करना।

(४) नीचे लिखे अनुसार १२ **भावनाओंको** वार वार **भावना** अर्थात् याद करना॥

(१) अनित्य–इस जगतमें सब चीजोंकी दशाएं बदलनेवाली हैं कोई एक दशामें स्थिर नहीं रहता इससे मोह करना निरर्थक है।

(२) अशरण—जगतमें जीवको अपने किये हुए कर्मोका फल भोगनेसे रोकनेके लिए किसीकी भी ताकत नहीं है इसलिए झूठी शरणका-स्थान छोड़ अपने ही आत्माको अपना शरण मानना चाहिये अथवा पंच परमेष्टीका शरण अनुभव करना चाहिये।

(३) संसार—जिन चार गति रूपी संसारकी अनेक योनियोंमें जीवका भ्रमण उसीके बांधे कर्मोके द्वारा हुआ करता है उनमें कहीं रंचमात्र भी आनन्द नहीं है। देव, पशु, मनुष्य सब ही मानसिक तथा शारीरिक दुःखसे दुखी हैं ऐसे संसारमें प्रीति करना उचित नहीं।

(४) एकत्व—अपने बांधे हुए कर्मोका फल इस जीवको अकेला ही भुगतना पड़ता है।

(५) अन्यत्व—अपनेसे जितने दूसरे हैं सब पर हैं—जगतमें सम्बन्ध मतलबका है।

(६) अशुचि—यह शरीर किसी दशामें भी पवित्र नहीं है और न स्नान चन्दनादिसे किसी प्रकार शुद्ध हो सकता है इसलिये शरीरको अपना दास बनाकर रखना। आप दास न हो जाना।

(७) आश्रव—कर्मोके आनेके कारणोंका विचार करना।

(८) संवर—कर्मोको आनेसे रोकनेके लिये उपाय विचारना।

(९) निर्जरा—कर्मोको नाश करनेका यत्न विचारना।

(१०) लोक—छः द्रव्योंसे भरे लोकका स्वरूप विचार करना।

(११) बोधदुर्लभ—जगतमें आत्मज्ञानका पाना बड़ा कठिन है यदि ऐसा ज्ञान होजाय फिर अपना समय व्यर्थ न खोना।

(१२) धर्म—जीवदया जिसमें प्रधान है वही धर्म है—यह धर्म आत्मा ही का स्वभाव है सो किसी प्रकार भी त्यागने योग्य नहीं है।

(५) परीषहोंको सम परिणामोंसे सहना—

ये परीसह २२ हैं—१ क्षुधा (भूख) २ तृषा (प्यास) ३ शीत (जाड़ा) ४ उष्ण (गरमी) ५ दंशमशक (डंस मच्छड़की) ६ नग्न (नंगे रहनेकी) ७ अरति (न सुहावने लायक चीजोंके सम्बंधकी) ८ स्त्री (स्त्रीकी ओर परिणाम हो जानेकी) ९ चर्या (चलनेकी) १० निषद्या (बैठनेकी) ११ शैया (सोनेकी) १२ आक्रोश-(गाली सुननेकी) १३ वध (मारनेकी) १४ याचना (मांगनेकी) १५ अलाभ (भोजनादि न मिलनेकी) १६ रोग १७ तृणस्पर्श (कटीले तिनके आदिके छूनेकी) १८ मल (शरीरके मलादिककी) १९ सत्कार पुरस्कार (आदर न होनेकी) २० प्रज्ञा (बुद्धि न होनेकी) २१ अज्ञान (ज्ञानकी कमीकी) २२ अदर्शन (श्रद्धान बिगड़नेके कारण मिलनेकी)।

(६) चारित्र सामायिक आदि करके व महाव्रत आदि पालके अपने परिणामोंको अपने रूपमें चलाना।

इस तरह संवर करनेके लिये मुख्य करके ६ कारण हैं। हमारे लिये हर समय उचित है कि हम इन कारणोंको अपने नेत्रके सन्मुख रक्खें—ऐसा करनेसे न तो हमारे कर्मोंका आश्रव होगा और न हम इस जगतमें कोई प्रकार किसीको हानिकारक होंगे—सभ्यता (Gentlemanliness) के प्राप्त करनेके लिये हमें संवर धारण करना चाहिये।

अध्याय १७ वां ।

निर्जरा ।

बंधे कर्मोंका दूर होना सो निर्जरा है। यह निर्जरा दो प्रकारसे होती है--१ सविपाक निर्जरा--जो कि अपने आप हर समय हुआ करती है--जब कर्म अपना रस दे चुकते हैं तब झड़ जाते हैं। २ अविपाक निर्जरा--जो कि यत्न करके करनी होती है।

यह निर्जरा तप द्वारा होती है। तपके अर्थ--तपानेके हैं। जैसे मैलसे मिला सोना अग्निमें डालनेसे शुद्ध हो जाता है वैसे कर्मोंसे मिली आत्माको तपानेसे इसके कर्ममल अलग होजाते हैं।

यह तप १२ प्रकारका होता है--६ बाह्य, ६ अंतरङ्ग।

बाहरी तप उसको कहते हैं जिसके ग्रहण करनेसे अन्दरका तप सिद्ध होसका है। यह छः प्रकार होता है।

१ अनशन--चार प्रकारका आहार छोड़कर निर्मलव्रतको एकादि दिनका प्रमाण लेकर करना--इसीको उपवास कहते हैं। समय समय पर इस तपके करनेसे इन्द्रियोंका स्वेच्छाचारीपना मिटता है तथा संसार देह भोगोंसे राग कम होता जाता है।

२ अवमोदर्य--जितनी भूख हो उससे इतना कम खाना कि जिससे नींद आलस्य न आजावे तथा रोग न पैदा हो जावे। इसके धारण करनेसे हम अपनेसे आलस्यको दूर रक्खेंगे।

३ वृतपरिसंख्यान---आशा तृष्णा मिटानेके वास्ते यह नियम करना कि आज हम एक व दो व पांच घर तक जांयगे, भिक्षा मिलेगी तो लेंगे ज्यादा न जांयगे। तथा मिट्टीके व चांदीके

व पीतलके वर्तनोंमें भोजन मिला तो लेंयगे अन्यथा नहीं। अथवा राजाके यहां चनेका भोजन मिलेगा तो लेंगे नहीं तो नहीं–इस प्रकार दिलकी कमजोरीको–टालनेके मतलबसे अटपटी आखरीका लेना परन्तु किसीको प्रकाश न करना सो वृतपरिसंख्यान तप है।

४ रस परित्याग–जिह्वा इन्द्रीकी लंपटताके मिटानेको मतलबसे तथा नींदको जीतनेकी गरजसे, तथा स्वाध्यायमें चित्त रखनेके प्रयोजनसे इन छः रसोंको समय समय पर छोड़ते रहना सो रस परित्याग नामा तप है–घी, दूध, दही, मीठा, नोन, तेल, यह छः रस हैं—

५ विविक्त शय्याशन—जीवोंकी बाधासे रहित एकांत स्थान जैसे सूना घर, मठ, गुफा, नदी तट आदि स्थानोंमें शयन आसन करना जिससे ब्रह्मचर्य स्वाध्याय तथा ध्यान भले प्रकार पालन कर सके।

६ कायक्लेश–देहके सुखिया स्वभावको मिटानेके लिये तथा दुःख आनेपर कायरता होनेके बचावके लिये शरीरको यथाशक्ति कष्ट भी देते रहना जैसे गरमीमें पहाड़के ऊपर खड़े हो, वर्षामें वृक्षके तले, तथा शरदीमें नदीके किनारे व चौराहे पर खड़े हो, अंतरङ्ग तप करना।

इन उपर्युक्त छः बाहरी तपोंका अभ्यास करनेवाला अंतरके तपोंको भले प्रकार पालन करसकता है। अंतरके छः तप यह हैं—

१ प्रायश्चित्त-प्रमाद (आलस्य) के कारण जो कोई दोष बन जावे उसके दूर करनेका यत्न करना, गुरुसे कहकर दंडादि लेना।

२ विनय—आदरसत्कार करना–यह ४ प्रकारका होता है।

(क) दर्शन विनय–सम्यक्दर्शनको भले प्रकार धारण करना। तथा सम्यक्दृष्टि धर्मात्मा पुरुषोंकी उचित विनय करना।

(ख) ज्ञान विनय–ज्ञानको भले प्रकार हासिल करना, सम्यक्ज्ञानियोंका यथायोग्य आदर करना, तथा ज्ञानके देनेवाले शास्त्रादिकोंको अच्छी तरह रखना तथा पढ़ना पढ़ाना।

(ग) चारित्र विनय–श्रावक व मुनिके करने योग्य आचरण बड़ी प्रीतिसे करना तथा सम्यग्चारित्रके पालनेवालोंका यथायोग्य आदर करना।

(घ) उपचार विनय—शास्त्रको आते देखकर खड़ा होजाना, दण्डवत करना, आचार्यादिकके पीछे चलना, कायदेसे बैठना, हाथ जोड़ना आदि व्यवहार-विनयको उपचार विनय कहते हैं।

३ वैयावृत्य—अपने शरीरसे तथा भोजनादि व पुस्तकादि दानकर व उपदेश देकर धर्मात्मा मुनि तथा श्रावकोंकी सेवा करनी सो वैयावृत्य नामा तप है।

४ स्वाध्याय–आलस्यको छोड़कर ज्ञानकी भावना करना सो स्वाध्याय है, यह पांच प्रकारका होता है–

क–वांचना–स्वयं शास्त्रको पढ़ना।

ख–प्रेछना–पढ़ते हुए जहां न समझे उसको अपनेसे विशेष जानकारसे पूछना।

ग–अनुप्रेक्षा–जो कुछ पढ़ा व पूछा उसको वार वार विचार करना।

४–आम्नाय–जो विचार करके निर्णय किया होय उसको प्राचीन आचार्य तथा विद्वानोंके कथनसे मिलान करना।

५–धर्मोपदेश–अन्य जीवोंको जो तत्वोंके मतलब आप समझ रक्खे हैं सो समझाना।

५–व्युत्सर्ग–देह तथा देहके सम्बन्धको अपना न मानना। इसी लिये बाहरी धनादि परिग्रह तथा अंतरंग क्रोधादिक तथा कायकी ममताको छोड़ना सो व्युत्सर्ग नामा तप है।

६–ध्यान–यही वह तप है जो कि कर्मोंकी निर्जरा बहुत शीघ्र कर सकता है तथा ऊपर कहे हुये ६ प्रकारके बाहरी तप और पांच प्रकारके अन्तरंग तप इसी तपकी सहायता करनेके लिये किये जाते हैं।

अध्याय १८वां।

ध्यान।

ध्यान ही एक वह प्रधान मार्ग है जिसके द्वारा हमारे कर्मोंके बन्धन एकाएक टूट पड़ सकते हैं। यह वह रसायन है जिसको खाकर एक महा रोगी पुरुष वीतरागी होकर उसी दशासे शिवरमणीको वर सकता है। यह वह राग है जिसमें मोहित होकर सुकुमालजीको यह न मालूम पड़ा कि उनकी देहको कोई नाहरी खारही है। यह वह इस्क है जिसमें मोह हो जानेसे तीन पांडवोंने अपने शरीरको जलते हुए लोहेके गहनोंसे विभूषित होता हुआ भी कोई दुःख न मालूम किया। यह वह चटनी है जिसका स्वाद

ले लेनेसे रामचंद्रजी अपनी स्त्री सीताजीका प्रत्येन्द्रकी पर्यायमें रहकर तरह तरहके पांचों इंद्रियोंके स्वादोंका नाटक दिखलाये जानेपर भी रंचमात्र मोहित न हुए। हा ! यह कैसा ही भली भंग है कि जिसके रंगकी तरंगमें लहराते हुए एक महात्माके गलेमें हजारों चीटियोंसे लिपटा हुआ मरा सांप कई दिन तक मड़ा रहा पर उनके मनका बाल भी बांका न हुआ। जो इस आनन्ददायिनी विद्याको वशमें कर लेते हैं उनको न भूख है, न प्यास है, न रोग है और न किसी वस्तुकी आशा है। वे सदा ही मस्त रहकर सुख उड़ाते हैं। संसारकी जलती हुई तृष्णाकी लपटोंसे उनके आंचल बिल्कुल दूर रह जाते हैं। यह वह रत्न है जिसका धनी ईश्वर-त्वकी पदवीसे किसी प्रकार कम नहीं, यह वह मन्त्र है जिसका कर्ता जगत्मोहनीके जेतासे तुल्यता करनेमें असमर्थ नहीं, यह वह अग्नि है जिसकी शीघ्र लपक कर्म कष्टोंके भस्म करनेमें अपनी अनुपमतासे किंचित् भी दूर नहीं। पाठको ! इस निरुपम ध्यानके विषयका मनन करना परमावश्यक है क्योंकि जैन मतका दारमदार इसी हीकी थिरतापर स्थिर है। जो जो सुगम ग्रन्थ मेरे देखनेमें आए हैं उनमें श्री ज्ञानार्णवजीकी महिमा अगाध ही विदित हुई है। श्रीमान परमोपयोगी श्री शुभचन्द्राचार्य विरचित यह ग्रन्थ है। श्री शुभचन्द्राचार्यने यह ग्रन्थ अपने लघुभ्राता भरथरीके समझानेके हेतु रचा था राजा भोज जिनके समयमें कालिदास व प्रसिद्ध आचार्य श्रीमानतुंग व धनंजयजी हुए हैं इन्हींके छोटे भाई थे इनका जीवनचरित श्री भक्तामरचरित्रमें भले प्रकार दिया हुआ है।

इस ग्रन्थमें ध्यानका विषय जैसा उत्तम वर्णन किया गया है, मुझे विश्वास है मेरे ऐसे अल्प ज्ञानियोंके देखनेमें कम आया होगा। मैं यहां उसीकी कुछ छाया लेकर अपने विचारवान पाठकोंके हेतु किंचित् वर्णन करूंगा।

चित्तको एक ज्ञेयकी तरफ लगानेका नाम **ध्यान** है। ज्ञेय यह वस्तु है जो जाननेमें आ सकती है। यह ध्यान ४ प्रकारका होता है जिनमें दो भेद तो अशुभ अर्थात् खोटे ध्यान हैं और दो शुभ अर्थात् अच्छे ध्यान हैं। दो खोटे ध्यान आर्त और रौद्र हैं। आर्त ध्यानका यह लक्षण है—

दोहा।

दुखके कारण आवते, दुःखरूप परिणाम।
भोग चाहि यह ध्यान दुर, आर्त तजो अघधाम॥
(ज्ञा० अ० २९)

भावार्थ—आर्त नाम दुःखी होनेका है—वह विचार जिससे परिणाम (भाव) दुःखी हो *आर्तध्यान* कहलाता है। परिणाम दुःखी होनेके ४ कारण हैं—१ इष्ट वियोग—जिस चेतन व अचेतन वस्तुसे हम प्रीति (राग) करते थे ऐसी चीज, मनुष्य व पशुका हमसे जुदा हो जाना और हमारा इसी लिये रंज करना। (२) अनिष्ट संयोग—जो चेतन व अचेतन चीज हमको बुरी मालूम होती है उसीका साथ होनेसे हमारा रंज करना। (३) पीड़ा चिंतवन—रोगादि दुःख होनेपर रंज करना। (४) निदान—दूसरेकी विस्मृत धनदौलत देखकर अपने दिलमें रंज मानना तथा अपने पास होनेकी चाहना करना।

दूसरा रौद्र ध्यान है, इसका लक्षण यह है—

दोहा।

पंच पापमें हर्ष जो रौद्रध्यान अवलोकि।
आर्त कह्यो दुःख मगनता, दोऊ तन निज जानि।

भावार्थ—पापोंमें खुशी माननेके भाव होना सो रौद्रध्यान है इस विचारके होनेके मुख्य ४ कारण हैं [१] हिंसानन्द—अपने मनसे, बचनसे व कायसे दूसरोंको स्वयं प्राण पीड़ा करना व प्राण पीड़ा कराना व प्राण पीड़ा व कोई हानि किसीकी सुनके हर्ष मानना, [२] मृषानन्द—झूठ बोलके खुशी व बोला हुआ सुनके खुशी मानना, [३] चौर्यानन्द—चोरी करके कराके व करी हुई सुनके खुशी मानना, [४] परिग्रहानन्द—सांसारिक सामग्री बढ़ाके, बढ़वाके व बढ़ी हुई देख सुनके आनंद मानना।

इन आर्त रौद्र ध्यानोंके करनेसे सिवाय नुकसान कुछ भी भला नहीं होता बल्कि दुहरी हानि होती है। एक तो इस भवमें दुःख होता है दूसरे यह प्राणी ऐसे अशुभ कर्म परमाणुओंको खींच लेता है जिनका फल अन्यसमयमें भुगतना होता है। इसलिये जो कर्मोंके संवर व निर्जरा करनेवाले ध्यानके करना चाहते हैं उनको यह दोनों ध्यान त्यागने योग्य हैं। ध्यान करनेवालेको दो अच्छे ध्यानोंको विचार करना चाहिये। १ धर्म ध्यान, २ शुक्ल ध्यान। शुक्लध्यानके होने लायक भाव इस कालमें हमारे नहीं हो सकते हैं। इस कारण इसका वर्णन यहां किया न कर केवल धर्मध्यानका हम वर्णन करेंगे।

अध्याय १९वां।

धर्मध्यान।

ध्यानमें चार मुख्य बातोंको जानना चाहिये १ ध्याता ध्यान करनेवाला २ ध्यान क्या है, व क्योंकर हो सकता है, ३ ध्येय ध्यान किसका करे ४ ध्यानका फल क्या है।

ध्याता।

ध्यान करनेवालेका यह लक्षण है।

सोरठा।

जो गृहत्यागी होय सम्यक रत्नत्रय विना।
ध्यान योग नहि सोय, ग्रहवासीकी का कथा ॥
(ज्ञा० अ० ४)

दोहा।

रत्नत्रयको धारि जे, शम दम यम चित देय।
ध्यान करें मन रोकि के, धनि ते मुनि शिव लेय ॥
(ज्ञा० अ० ९)

भावार्थ—जो तीन रतनको अर्थात् सम्यग्दर्शन (भले प्रकार सात तत्वोंका श्रद्धान) सम्यग्ज्ञान (भले प्रकार सात तत्वोंका जानपना) सम्यक् चारित्र (भले प्रकार सात तत्वोंमें आचरण)के धारी हैं और समता अर्थात् वीतरागताके धारक पांच इंद्रियोंके विषयोंको जन्म पर्यंत छोड़नेवाले ऐसे जो मुनि मनको रोकके ध्यान करते हैं वे कर्मोंकी निर्जरा करके शिवपदको लेते हैं। और जिन्होंने घर तो छोड़ दिया पर तीन रतन नहीं धारे वे कभी ध्यान नहीं क

सकते हैं। उनसे तो वे गृहस्थी ही भली प्रकार ध्यान कर सकते हैं जो सम्यग्दर्शन सहित व्रती हैं जैसे श्री सुदर्शन सेठने अष्टमी के दिन नगर बाहर बनमें ध्यान लगाया था, क्या ! क्या स्थिर ध्यान था कि राजाकी अर्द्धांगिनी द्वारा अनेक कष्ट दिये जाने तथा आपत्तियोंके भीतर पटके जानेपर भी उन्होंने अपना मथा ध्यान नहीं छोड़ा।

जो मुनि मारण, उच्चाटन, वशीकरण, इन्द्रजाल, वैद्यक, ज्योतिष आदि क्रियाओंके करनेमें परिणाम रखते हैं वे कभी धर्म-ध्यान नहीं कर सकते हैं। ध्यान तो १२ भावनाओंके रसमें मगन हो जानेवाले मनुष्यों हीके पल्ले पड़ सकता है, अन्योंके नहीं।

ऐसे ध्यानके चाहनेवालेको किस स्थान पर बैठकर ध्यान करना चाहिये।

अध्याय २०वाँ।

ध्यानका स्थान।

दोहा।

जहां क्षोभ मन उपजै, तहां ध्यान नहिं होय।
ऐसे थान विरुद्ध हैं, ध्यानी त्यागैं सोय॥

भावार्थ—जिस जगह पर बैठनेसे मनमें कुछ भी घबड़ाहट पैदा हो वह जगह ध्यान करनेके लायक नहीं है, क्योंकि स्थानके सबबसे भी मन बिगड़ जाता है व निश्चल हो जाता है। इस लिये ऐसी जगह बैठकर ध्यान नहीं हो सकता है—जहां मनुष्य, स्त्री नपुंसकोंका आना जाना हो, जिस स्थानपर किसी खास मनु-

प्यका अधिकार हो, जहां भेषधारी साधुओंका रहना हो, जहां राजा दुष्ट हो तथा जहां जुआरी आदि व्यसनी जीव आ जाते हों।

ध्यान करनेके स्थान तो यह हैं–सिद्धक्षेत्र जहांसे मह पुरुषोंने मुक्ति पाई, तीर्थक्षेत्र–जहां, तीर्थकरोंके जन्म, तप व ज्ञ कल्याणक हुए हों, समुद्र व नदीके किनारे, वनके बीच, पहाड़ चोटी, शालमली वृक्षोंके झुंड, जलके बीच टापू, वृक्षकी खो उजड़ा बगीचा, मशानभूमि, पहाड़की गुफा आदि।

विना एकान्त स्थानके मन एक ओर नहीं जम सकता है जो जो विद्वान् हुए सबने एकान्त हीमें मनन कर विद्याको प्र किया है। विद्याधर लोग विद्या साधनेके लिये जंगलोंमें अके रहते थे तब विद्याको सिद्ध कर पाते थे। यूरुपमें जो जो प्राच विद्याके उद्धारक व प्रचारक हुए हैं सबने एकांत स्थान हीमें अ मनको रखकर काम किया है। Newton (न्यूटन) Buff (बफन) Wicliflo (वीक्लिफ) Luther (लूथर) knox (नाक्स) Oliever Cromwell (ओलाइवेर क्रामवेल) Wordswor (वर्डसूवर्थ) Carlyle (कारलाइल) Goldsmith (गोल्डस्मिथ Scott (स्काट) Lord Byron (लार्ड वैरन) Shakespea (शेक्सपीयर) आदि प्रसिद्ध यूरूपीय विद्वान् एकांत स्थानमें वि करनेके कारण अपने अपने कर्तव्यमें उन्नति कर सके।

Jean Paul Richter [जीनपाल रिक्टर] का कथन " All worthy things are done in solitude " अ जितने योग्य काम हैं सब एकांत स्थानमें ही किये जाते हैं।

बिलकुल वशमें होगया है उनके लिये आसनका कोई विशेष नियम नहीं है किन्तु ध्यान करनेवालेके लिये आसनकी मजबूती जरूर होनी चाहिये। ध्यान करनेके आसन बहुतसे हैं जिनमें दो आसन बहुत सुगम और प्रचलित हैं। १ पर्यंकासन २ कायोत्सर्ग। पर्यंकासनमें दोनों पैरके तलवे अपनी जाघोंपर खुले मुंह ऊपरको किये जमावे और दोनों हाथोंकी हथेली खुली हुई अपनी गोदमें बायेंके ऊपर दाहनी रक्खे। दोनों आंखोंको नाकके आगे नोकपर जमादेवे, भौंहें चले नहीं होठ न बहुत खुले न बहुत मिले हों और मुंह रूपी कमल शांतरसका टपकानेवाला होय, मनमें दया और वैराग भरा हो, शरीर सूधा रहे। इस आसनमें ऐसा निश्चल रहे कि देखनेवालेको पत्थरकी मूर्ति ही मालूम हो। बैठे आसन भगवानकी प्रतिबिम्ब जो हमारे मंदिरोंमें बिराजमान रहती है इस पर्यंकासनको भले प्रकार दर्शाती है। कायोत्सर्ग आसनमें खड़े हो ४ अंगुलके अन्तरसे दोनों पैर बराबर रखकर दोनों हथेली लटकती हुई मुख नेत्रकी चेष्टा पर्यंकासनकीसी हो। इन दोनों आसनोंमें एक आसनके जीतनेका यत्न अवश्य करना योग्य है।

दोहा

आसन दृढ़ते ध्यानमें, मन लागे इकतान।
तातें आसन योग्यकूं, मुनि करि धरैं ध्यान॥

(ज्ञा० अ० २८)

भावार्थ--जिस आसनके रखनेसे मुनिका मन निज स्वरूप लगे उसी आसनको रखकर मुनि आत्मध्यान करते हैं।

अध्याय २२ वा

प्राणायाम।

ध्यान करनेवालेके लिये यह बहुत जरूरी बात है कि उसका मन थिर हो, क्योंकि बिना मनके स्थिर किए हम कदापि आत्मध्यान नहीं कर सकते हैं। यदि ध्याताने अपने ज्ञान वैराग्य तथा इंद्रियोंके रोकनेमें मनको सहज हीमें वशकर लिया है तो उसके लिये प्राणायामकी जरूरत नहीं है। किन्तु जिस ध्याताका मन चंचल है अर्थात ध्यान करते वक्त वशमें भले प्रकार न रहकर विषय कषाय सम्बन्धी तरह तरहके विकल्प भावोंके अन्दर जाता है उसके लिये ध्यान शुरू करनेके पहिले प्राणायामका साधन बहुत जरूरी है।

इस प्राणायामके साधनमें लौकिक प्रयोजन भी सिद्ध होते हैं, किन्तु मोक्ष मार्गपर चलनेवालेको लौकिक मतलबमें कभी प्राणायाम करना उचित नहीं है क्योंकि लौकिक प्रयोजन सांसारिक रागद्वेषके करनेवाले हैं—दूसरेके हानि लाभको बतलाना, वशीकरण, मारण, उच्चाटन आदि करना तथा पशुपक्षी आदिके शरीरके अंदर फिरना आदि काम इस प्राणायामके द्वारा किए जासकते हैं। इस प्राणायामका वर्णन श्री ज्ञानार्णव ग्रन्थके २८ वें अध्यायमें किया है। इस अध्यायके श्लोक ९८, ९९ व १०० का यह मतलब है कि प्राणायामका भले प्रकार साधनेवाला योगी एक चित्त होकर भौंरा, पतंग व अंडज पक्षी तथा हिरन आदि पशुओंके शरीरमें चला जा सकता है तथा मनुष्य, घोड़े, हाथी आदिके शरीरोंमें अपनी इच्छाके अनुसार जा सकता है तथा निकल आ सकता है।

इसी तरह पत्थरोंके अन्दर भी जा सकता है। यहांतक कि ऐसा योगी अभ्यासके बलसे शरीर रहित आत्माकी तरह चाहे जहां अपनी इच्छासे घूम जा सकता है।

प्राणायाम—पवन (हवा) के साधनेको कहते हैं—शरीरमें हर जगह हवा घूमती है। मुंह व नाकके द्वारा जाती आती प्रत्यक्ष विदित होती है इसी हवाके कारण मन भी चंचल रहता है—इस हवाके रोकनेकी तरकीब प्राणायाम है।

यह प्राणायाम तीन तरहका होता है—

१ पूरक—हवाको तालूके छेदसे खींचकर देहमें भर लेना।

२ कुंभक—इस खींची हुई हवाको नाभिके स्थान पर इस तरह रोक देना जो यह नाभिको छोड़कर दूसरी जगह न जाने पावे।

३ रेचक—इस हवाको अपने कोठेसे धीरे धीरे निकालकर बाहर कर देना। जो हवा नाभिसे हटाकर हृदय कमलमें होती हुई तालूके छेदके स्थान पर ठहराई जाती है उसको पवनका परमेश्वर कहते हैं।

पूरक, कुंभक, रेचकका जब बराबर अभ्यास होजाय तब योगी हृदयके कमलमें हवाके साथ अपने मनको जोड़कर थांभ देते हैं—इस तरह मनको थांभनेसे जबतक मन रुकेगा कोई और भाव पैदा न होकर विषयोंकी आशा मिट जायगी और भीतर ज्ञान बढ़ता हुवा चला जायगा।

मनके वश करनेके लिये सिर्फ इतना अभ्यास प्राणायामका जरूरी है। प्राणायामके द्वारा लौकिक प्रयोजन साधनेके लिये इस २८ वें अध्यायमें बहुतसी युक्तियां पवनके वश करनेकी कही हैं

इनका वर्णन में प्राणायाम शीर्षक लेखमें किसी समय पर दिखाऊंगा। यहां "ध्यान" विषयमें केवल मनके वश करनेका प्रयोजन है। २८ वें अध्यायका सार टीकाकार श्रीमत्पंडित जयचंदजीने इस एक कवित्तमें दिखलाया है—

कवित्त ।

आसन थान सवांरि करै मुनि प्राणायाम समीर संभार ।
पूरक कुंभक रेचक साधन निज आधीन सुतत्व विचार ॥
जगत रीति सम लखै शुभाशुभ अपने हानि वृद्ध निरधार ।
मन रोके परमातम ध्यावे तब यह सफल न आन प्रकार ॥

भावार्थ यही—कि आसन और स्थान ठीककर प्राणायाम केवल मनके वस करनेके लिए ही करना उचित है जिसमें हम शुद्धात्माका विचार कर सकें।

अब ध्याताके लिये प्रत्याहार धारणाकी भी आवश्यकता है।

अध्याय २३ वां ।

प्रत्याहार धारणा ।

मनको एक ठिकाने रोककर रखकर रखना और उसमें ध्येय [ध्यान करने योग्य पदार्थ] का ठहराना सो प्रत्याहार धारणा है।

दोहा ।

भाल आदि दश थानमें, ध्येय थापि मनलार ।
प्रत्याहार सु धारणा, यहै ध्यान विधिसार ॥
(ज्ञा० अ० २९)

देहके भीतर मनको ठहरानेके लिये दस जगह हैं—जैसा ज्ञानार्णव

मंदाक्रांता छंद।

नेत्रद्वंद्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे,
　　वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनिभ्रूयुगांते।
ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे,
　　तेष्वेकस्मिन् विगतविषयं चित्तमालंबनीयम् ॥१३॥
[ज्ञा० अ० २९]

भावार्थ—मन ठहरानेके १० स्थान यह हैं १-दोनों आँखें २ दोनों कान ३ नाककी नोक ४ माथा ५ मुंह ६ नाभी ७ सिर ८ हृदय [दिल] ९ तालू १० दोनों भौंहोंके बीचका भाग॥ इनमेंसे किसी जगह मनको रोककर ध्येय (परमात्मा) का विचार करना है सो प्रत्याहार धारणा है।

ध्याता आसन, स्थान, प्रत्याहारधारणाको ठीक करनेके पीछे इस बातकी प्रतिज्ञा अपने चित्तमें करता है कि मैं अनादि कालसे कर्मरूपी जालसे बँधा हूं, इसीसे संसारमें नाना प्रकारके दुःख अविद्याके कारण पाए। मेरा स्वभाव परमात्माके समान ज्ञाता दृष्टा है किन्तु कर्मकी रजसे मैला होरहा है। अब मैं ध्यानके बलसे कर्मोंको नाशकर अपने स्वरूपको ध्याय लेऊं। इस तरह मनमें कहकर वह ध्यानी रागद्वेष अपने चित्तसे हटा धर्म ध्यान करना प्रारम्भ करता है।

अध्याय २४ वाँ।

ध्येय।

जिसका ध्यान किया जाय—उसको ध्येय कहते हैं। यह लोक छः द्रव्योंका ढेर है—जितनी दशाएं इस जगतमें दिखलाई पड़ती

हैं सब छ द्रव्योंके ही सम्बन्धसे पैदा हुई हैं। जिनमें १ जीव तो चेतन ज्ञान दर्शनमई द्रव्य है बाकी पांच पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल अचेतन याने जड़ है। ध्यानीको इन छहों द्रव्योंमेंसे अलगकर चेतन द्रव्यको भले प्रकार विचारना चाहिये।

चेतन द्रव्य दो तरहका है—१ सांसारिक, २ सिद्ध। जो जीव कर्मोंसे लिपटे हुये जनम मरण करते रहते हैं वे संसारी हैं। जिनके कर्मका मल नहीं वह सिद्ध परमात्मा हैं।

ध्यान करनेवाला अपनी आत्माको संसारकी अवस्थामें कर्मोंसे लिपा देखता है और जब अपनी आत्माके असली स्वभाव पर जाता है तो अपनी आत्मा और सिद्धात्मामें कोई भेद नहीं पाता है। सिद्ध परमात्मा शुद्ध आत्मा है जिसके कोई कर्मका मेल तथा किसी प्रकारका राग द्वेष नहीं है।

अध्याय २५ वाँ।

ध्यान और उसका अन्तिम फल।

जिसके ज्ञानमें तीन लोककी सब चीजें इसी तरह झलकती हैं जैसे निर्मल दर्पणमें सामनेकी सब चीजें झलक जाती हैं, जो इन्द्रियोंके द्वारा नहीं ग्रहणमें आता तथा जो ज्ञानकी [illegible] साकार तथा पुद्गल शरीरकी अपेक्षा निराकार है—इस [illegible] जो जो अन्तरङ्ग गुण हैं वे सब आत्मजनित मुख्य [illegible] शरीर सहित अर्हन्तमें भी हैं—अर्हन्त व सिद्धकी [illegible] गुण धारनेवाला अपनी आत्माको विचारना। इस [illegible] ध्यान करने ध्याताकी आत्मा परमात्मा स्वरूपमें हो सकती है—[illegible]

करते करते कुछ दिनोंमें ध्यान करनेवालेका द्वैतभाव (मैं आत्मा किसी परमात्माका ध्यान करता हूं) नाश होजाता है। उसके फिर ध्याता, ध्यान और ध्येयमें कुछ भेद नहीं रहता अर्थात् अद्वैतभाव (एकीभाव) में प्राप्त हो कर्मोंका नाश कर डालता है।

दोहा।

पौरुष कर ध्यावें मुनी, शुद्ध आत्मा जोय।
कर्म रहित वर गुन सहित, तब तैसा ही होय॥
(ज्ञा० अ० ३०)

भावार्थ—मुनि यतन करके अपनी आत्मा हीके स्वभावमें लीन होते हैं। अपनी ही आत्माको शक्ति अपेक्षा शुद्ध कर्मोंसे दूर विचारते हैं तब तैसे ही याने शुद्ध आत्मा होजाते हैं, इसलिये ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य सिवाय शुद्ध आत्माके और कोई वस्तु नहीं है—इस शुद्ध आत्माका ध्यान इस प्रकार विचार करना जैसे इस छप्पैमें कहा है—

जड़ चेतन मिलि हैं अनादिके एक रूप भिन्न।
मूढ़ भेद नहिं लखैं प्रकृति मिथ्यात्व उदै इम॥
जिन आगम ते जिन्ह भेद जानें लहि अवसर।
अनुभव करि चिद्रूप आप अर अन्य सकल पर॥
जब अंतर आतम होय करि करै शुद्ध उपयोग मुनि।
तब शुद्ध आत्मा ध्यान करि लहै मोक्ष सुख मय अवनि॥
(ज्ञा० अ० ३१)

भावार्थ—चेतन और कर्म आदि जड़ वस्तुका मेल अनादि काल याने हमेशासे ऐसा होरहा है कि दोनों एकमें एक होरहे हैं—

जो कि शरीरको ही आत्मा जानते हैं ऐसे जीव इसके भेदको नहीं पाते हैं। जैन शास्त्रोंके उपदेशसे आत्माकी और जड़की अलग अलग पहचानको जानकर जो और सबसे तीनोंसे मन हटा आत्माका विचार करते हैं वे अंतरात्मा होजाते हैं। इस तरह अपने उपयोग (भाव) को शुद्ध आत्मामें अच्छी तरह लीन होते होते मोक्ष सुखकी भरी अवस्थाको प्राप्त करते हैं अर्थात् संसा के दुःखके पसारसे छुटकारा पा जाते हैं।

अध्याय २६ वाँ।

निराकारका ध्यान साकारके द्वारा ही हो सकता है।

यहांपर एक बात विचार करनेकी यह है कि आत्मा और परमात्मा दोनोंका स्वरूप निराकार है याने सामने दिखलाई नहीं पड़ता इससे एकाएक मनका आत्मा तथा परमात्माके स्वरूपमें बराबर लगे रहना कठिन है। इस लिये साधनेवालोंके लिये निराकारका ध्यान विना किसी साकार वस्तुपर मन लगाये नहीं हो सकता है जैसा कहा है—

आलक्ष्य लक्ष्य सम्बन्धात्,
स्थूलात्सूक्ष्मं विचिंतयेत्।
सालंबाच निरालम्बं,
तत्व वित्तत्त्वमंजसा ॥ ४ ॥

(ज्ञा० अ० ३२)

भावार्थ जो अपने लखने याने जाननेमें आवे उसके द्वारा जो कि मस्तक लखनेमें नहीं आ सकता उसको विचारे, (स्थूल)

इंद्रियोंके मालूम करनेमें जो आवे उसके द्वारा सूक्ष्म-(जो इंद्रियोंके जाननेमें न आवे) को विचारे। इसी तरह सालंब (किसी सहारा लेनेवाली चीज) के द्वारा निरालम्ब (जो किसीके सहारे नहीं है) ऐसे परमात्माको जाने–तत्वपर पहुंचनेका यह मार्ग है-इसी लिये किसी साकार चिन्हकी आवश्यकता है जिसके द्वारा हम निज आत्मा व परमात्माका ध्यान कर सकें।

धर्मध्यान साधनेके मुख्य नियम।

पाठकों! शुद्ध परमात्मामें लय हो जानेके लिये ४ प्रकारका आलम्बस्वरूप मार्ग हैं जिसके द्वारा हमारा अभ्यास क्रमक्रमसे निराकार आत्मापर जम जाता है।

ये यह हैं–१ पिंडस्थ, २ पदस्थ, ३ रूपस्थ, ४ रूपातीत।

अध्याय २७ वाँ।

पिंडस्थ ध्यान मार्ग।

इस पिंडस्थ ध्यानमें ५ प्रकारकी धारणा है।

१ पार्थिवी, २ आग्नेयी, ३ आश्वासनी, ४ वारुणी, ५ तत्वरूपवती।

पार्थिवी धारणा स्वरूप।

इस मध्यलोकके समान बड़ा एक समुद्र विचारकर जो कि क्षीर समुद्रके समान सफेद रंगका ठहरा हुआ, बिना किसी लहर उठे व बिसी गर्जनाके हो। इस समुद्रके बीचमें एक कमल हजार पत्तोंका विचार करे जो कि सुवर्णके रंग समान चमकता हो, तथा जम्बूद्वीपके समान एक लाख योजनके व्यास

Diameter) सहित हो, इस कमलके बीचमें एक बहुत पीले रंगकी कर्णिका विचार करे जो कि सुमेरु पर्वतके समान हो—इस कर्णिकाके ऊपर रक्खा हुआ, १ सफेद रंगका चन्द्रमाके माफिक चमकता हुआ सिंहासन विचार करें—इस सिंहासनके ऊपर अपनेको बैठा हुआ इस हालतमें देखें कि मैं शांतरूप विना किसी घबड़ाहटके बैठा मैं अपनी आत्मा पर लगी हुई कर्मरूपी कालिमाके नाश करनेके लिये यतन कर रहा हूं। इतना विचार वारम्वार करनेसे पार्थिवी धारणाका जमाव चित्तमें होजाता है। जब इसका अभ्यास अच्छीरूपसे होजाता है तब आग्नेयी धारणाका विचार किया जाता है।

आग्नेयी धारणा।

उसी ऊपर कहे हुए सिंहासनके ऊपर बैठा हुआ योगी अपने नाभिमंडलके अन्दर १ कमल १६ पाँखड़ीका बहुत मनोहर ऊपरकी ओर मुंह किया हुआ विचार करे, इस कमलके हरएक पत्तेपर एक स्वर लिखा हुआ विचारे, याने सोलह पत्तोंपर यह १६ स्वर देखे। अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः। और इसी कमलकी कर्णिकाके बीचमें (हैं) चन्द्र बिन्दु और रेफ करके सहित ह—का विचार करे। यह हैं अक्षर बहुत चमकता हुआ देखे। इस हैं की रेफसे धीरे धीरे निकलती हुई धूएँकी लौको विचारे और फिर यह धूआँ आगके फुलिंगोंकी सूरतमें होता हुआ लौकी दशामें बढ़ता जाय और योगी अपने हृदयके बीचमें नीचा मुंह किये एक आठ पाँखड़ीका कमल विचारे, यह आठ पाँखड़ी आठ कर्मको दिखलानेवाली जानें—और यह देखे कि यह रेफसे पैदा हुई आग इस आठ कर्मरूपी आठ पत्तोंको

कमलको जला रही है। फिर यह देखे कि यह आग इस कमलको जलाते जलाते बाहर देहके आकार त्रिकोण (Triangle) रूप हो गई। जिसमें अग्निका बीजाक्षर रेफ फैला हुआ तथा साथियेका चिह्न बना हुआ है और जो ऊपरकी ओर सोनेकी चमकके माफिक चमकदार लौको निकाले हुए बिना किसी धुएंके जल रही है इस तरह यह विचारे कि यह रेफसे निकली हुई आग अन्दर मेरे कर्मोंके कमलको बाहर इस शरीरको जला रही है और जलाते जलाते दोनोंको भस्मकी दशामें कर दिया है और तब यह आग अपने आप धीरे धीरे ठंडी हो बुझ गई है—इतना विचार वारंवार करना सो आग्नेयी धारणा है।

आश्वासनी धारणा।

जब ऊपर कही हुई धारणाका अच्छी तरह अभ्यास होजाय तब वह योगी यह विचार करे कि बहुत तेज हवा चल रही है जिसने बादलोंको फोड़कर समुद्रके पानीको चलायमान कर, पर्वतोंको कम्पाकर तमाम जगतमें फैलकर खलबली पैदा कर दी है और उसी पवनने इस योगीके जले हुए आठ कर्मरूपी कमल और शरीरकी भस्मको एक झोकेमें उड़ा दिया है और फिर यह हवा धीरे धीरे शांत होगई है—इतने विचारको आश्वासनी व मारुत धारणा कहते हैं।

वारुणी धारणा।

जब आश्वासनी धारणाका अच्छी तरह अभ्यास हो जाय तब वही योगी यह विचार करे कि आकाशमें मेघ छा गए, गर्जना होने लगी तथा बिजली चमकने लगी और फिर मोतीके

पश्चात् मोटी मोटी साफ पानीकी बूंदें बराबर बरसने लगीं ऐसी कि जिस बरसने बिलकुल ढो लिया तब जिसमें अर्द्ध चंद्रमाका सा प्रकाश बन गया फिर यह देखे कि यह (जलरूपी) जल मेरी आत्मापर लगा हुआ भस्म रजको धो रहा है और आत्माको साफ कर रहा है-इस प्रकार विचारना सो वारुणी धारणा है।

तत्त्वरूपवती धारणा।

जब योगीको ऊपर कही हुई वारुणी धारणाका अभ्यास हो जावे तब वह योगी विचार करे कि मेरी आत्मा सर्व कर्मोंसे रहित व सात धातुमयी शरीरसे रहित शुद्ध होकर उसी सिंहासन पर बहुत साफ गौरवर्ण पुरुषके आकार शोभा संयुक्त विराजमान है। तथा देवादि मेरी आत्माकी पूजा कर रहे हैं और मैं अपनी निर्मल चंद्रमाकी किरण समान आत्मा हीमें लीन हूं-इतना विचार सो तत्त्वरूपवती धारणा है।

इस प्रकार पिंडस्थ ध्यानके अभ्यास किये जानेसे यह आत्मा निजानंदको पाता हुआ थोड़े ही समयमें मोक्षके अविनाशी सुखको पालेता है। इस पिंडस्थ ध्यानकी महिमा अगाध है-इसके अभ्यास करनेवालेको मंत्र, यंत्र, सिंह, सर्प व और कोई उपद्रव अपना कुछ असर नहीं कर सकते हैं।

इस पिंडस्थ ध्यानकी महिमा इन श्लोकोंसे जाननी चाहिये।

आर्याछन्द।

इत्यविरतं सयोगी
पिंडस्थे जातनिश्चलाभ्यासः।
शिवसुखमनन्यसाध्यं
प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ॥

शार्दूलविक्रीडित

विद्यामंडलमंत्रयंत्रकुहक
साभिचाराः क्रियाः ।
सिंहासी विषदैत्य दंति सरभा
यांत्येव निःसारतां ॥
शाकिन्यो गृहराक्षसप्रभृतयो
मुंचंत्यसद्वासनां ।
एतद्ध्यानधनस्य सन्निधिवशा-
द्भानोर्यथा कौशिकाः ॥

दोहा ।

या पिंडस्थ ध्यानके मांहि,
देह विषै चित आतम चाहि ।
चितवै पंच धारणा धारि,
निज आधीन चित्तको पारि ।

अध्याय २८वाँ ।

पदस्थ ध्यान ।

पदोंको आश्रय लेकर जो ध्यान किया जाय उसको पदस्थ ध्यान कहते हैं—ध्यान करनेवाला अपने योग्य स्थान तथा आसन ठीक करके यह विचार करता है कि मेरे नाभि मंडलमें सोलह (१६) पत्रोंका १ कमल है। इन १६ पत्रों पर १६ स्वर (अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः) लिखे हुए हैं और यह स्वर इन पत्रोंके ऊपर घूम रहे हैं और हृदयके बीचमें

इसी तरह एक दूसरा कमल २४ पत्रोंका है। इस कमलके बीचमें १ कर्णिका है। यह २४ पत्रे और कर्णिका इन २५ जगहों पर कवर्गसे पवर्ग तक २५ अक्षर लिखे हुए हैं अर्थात् (क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म,) फिर वह ध्याता अपने मुखमें १ आठ पत्रोंका कमल देखे इन पत्रोंपर यह देखे कि य, र, ल, व, श, ष, स, ह, यह आठ अक्षर लिखे हुए हैं और घूम रहे हैं। इस तरह सर्व (१६+३३) ४९ अक्षरोंके मंत्रका विचार करना सो पदस्थ ध्यानमें वर्णमातृका ध्यान है—

सर्व श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति इन ४९ अक्षरोंसे होती है इस लिये इस ध्यानके बहुत दिनोंके अभ्याससे ज्ञानकी बढवारी होने लगती है यहांतक कि संयमी मुनि श्रुतज्ञानके पार पहुंच जाते हैं— अतिरिक्त इस ज्ञान वृद्धि होनेके इस ध्यानके अभ्याससे शरीरके रोगोंकी भी शांति होती है।

स्वामी शुभचंद्राचार्यका वाक्य है कि—

जापाज्जयेत् क्षयमरोचकमग्निमांद्यं।
कुष्टोदरामकासनश्वसनादि रोगान्॥
प्राप्नोति वा प्रति वाङ्महतीं महद्भ्यः।
पूजां परत्र च गतिं पुरुषोत्तमाप्तां॥

भावार्थ- इस वर्णमातृकाके जपसे क्षयी, अग्निकी मंदता, कुष्ट उदर, कासश्वास, आदि रोग जाते हैं, अच्छी वचन शक्ति प्राप्त होती है तथा उत्तम गतिको पाते हैं।

इस पदस्थ ध्यानमें बहुत प्रकारके पद ध्यान करने योग्य कहे गये हैं–यहां उनमेंसे कुछ और वर्णन किये जाते हैं—

पद–र्हं–जिससे प्रयोजन अर्हन्तका है। इस मन्त्र पदको अपने हृदयके बीच एक सुवर्ण मई कमलके बीचकी कर्णिकामें ठहरा हुआ सफेद रंगका विचार करे फिर इसीको धीरे धीरे ऊपरको उठता हुआ देखे और यह उठकर दोनों भौंहोके बीचमें आकर चमके, फिर मुंहरूपी कमलमें जाता हुआ तालूके छेदसे अमृतमई जलको वर्षाता हुआ निकले फिर आंखोंकी पलकोंपर चमकता हुआ सिरके बालोंमें आकर ठहरे, वहांसे उठकर ज्योतिषी लोकमें घूमता हुआ तथा चंद्रमाकी वरावरीसे निकलकर सब दिशाओंमें घूमता, आकाशमें उछलता तथा कलंकोंको दूर करता हुआ मोक्ष-स्थान जो सिद्ध शिला उसमें प्राप्त होता हुआ विचार करे। इतना विचार ध्यान करनेवालेको कुम्भक पवन साधन करके करना चाहिये, जब इसका अभ्यास पूरे तोरसे हो जावे तब इस मंत्र पदको सदा अपने नाकके अग्रभागमें व भौंहोंके बीचमें धारण कर ध्यान करें।

पद–ॐ–जिसको प्रणव कहते हैं। यह पांच परमेष्टीको प्रकाश करनेवाला है क्योंकि यह पद पांच परमेष्टियोके प्रथम पांच अक्षरों हीसे बना है जैसे (अ+अ+आ+उ+म)=(अरहंत+अतन (सिद्ध)+आचार्य+उपाध्याय+मुनि)

यह अक्षर परमेष्ठीका सूचक है ऐसा स्वामीके इस श्लोकसे भले प्रकार विदित है।

श्लोक–यस्माच्छब्दात्मकं ज्योतिः प्रमूतिमति निर्मलं ।
वाच्यं वाचकसम्बन्धस्तेनैव परमेष्टिनः ॥

इस 'ॐ' अक्षरको हृदयकमलकी कोणकामें स्वर और व्यंजनोंमें पैदा हुआ चंद्रमाके रंग समान सफेद रंगका देखकर कुंभक पवनके द्वारा विचार करे।

इसी ॐ अक्षरको यदि मूंगेके समान लाल रंगका विचारे तो जगतमें घबड़ाहट पैदा हो जाय व वशीकरणका कार्य दे। यदि सुवर्ण रंगका विचार करे तो स्तम्भनका काम दे, यदि काले रंगका विचारे तो द्वेष पैदा हो जाय किन्तु मोक्ष मार्गपर चलनेवाले व्यक्तिके लिये सदा यह अक्षर सफेद रंग हीका देखना योग्य है।

पंच परमेष्ठी नमस्कार लक्षण मंत्रका विचार–अपने हृदयमें एक सफेद चमकता हुआ आठ पत्रका कमल विचार करें उसकी बीचकी कर्णिकामें सात अक्षरका मंत्र अर्थात् 'णमो अरहंताणं' विचारे, और इस कमलकी चार दिशा सम्बन्धी पत्रोंपर क्रमसे यह ४ मंत्रोंको विचारेः—

१—णमोसिद्धाणं—५ अक्षर।
२—णमो आयरियाणं—७ अ०
३—णमो उवज्झायाणं—७ अ०
४—णमोलोये सव्व साहूणं—९ अ०

और इस कमलके चार विदिशा याने कोनोंके पत्रोंपर यह ४ मंत्र विचारे—

सम्यग्दर्शनाय नमः १ सम्यग्ज्ञानाय नमः २ सम्यग्चारित्राय नमः ३ सम्यग्तपसे नमः ४

इस तरह ९ पदोंको कमलपर स्थापकर ध्यान करनेसे चित्तमें बहुत पवित्रता प्राप्त होती है।

इसी तरह पंच परमेष्ठीके नमस्कार रूप नीचे लिखे यह भी मन्त्र हैं। १६ अक्षरका मंत्र—अर्हंत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः;— -

६ अक्षर मंत्र—अरहंत सिद्ध।

४ अक्षर मंत्र —अरहंत—

२ अक्षर मंत्र-—सिद्ध—

१ अक्षर मंत्र—ॐ—

पहला पंच परमेष्ठी नमस्कार रूप मंत्र १०८ वार जपना बराबर है। १६ अक्षरका मंत्र २०० वार जपनेके, यह बराबर है। ६ अक्षरका मंत्र ३०० वार जपनेके, यह बराबर है, ४ अक्षरका मंत्र ४०० वार जपनेके, यह बराबर है १ अक्षरका मंत्र ९०० बार जपनेके* ।

इत्यादिक अनेक मंत्र पद हैं। इनके ध्यान करनेसे मन एकान्त होकर निजस्वरूपकी ओर दौड़ता है। इनका विशेष वर्णन शास्त्रके देखनेसे मालूम हो सकता है। यहाँपर लिखनेसे यह लेख बहुत बढ़ जायगा। प्रयोजन यह ध्यानमें रखना योग्य है कि बिना संसार सम्बन्धी राग द्वेष छोड़े यह मंत्र पद भी, ध्यान किये हुए लाभ और वैराग्यको नहीं बढ़ाते हैं। अपने सूक्ष्म आत्माकी ओर अपने मनका लगा देना ही हमारा असली मतलब है। इसीलिये ही पदस्थ ध्यानका अभ्यास है। जैसा कि श्रीमान् जयचन्द्रजीने

* २ अक्षर मंत्रकी जापका नियम श्लोकमें नहीं पाया गया।

इस अडिल्लमें कहा है—

अक्षर पद कूं अर्थ रूपले ध्यानमें ।
जे ध्यावैं इस मंत्ररूप [illegible] ज्ञानमें ॥
ध्यान पदस्थ जु नाम कहो मुनिराजने ।
जे यामें व्है लीन लहैं निज काजमें ॥

अध्याय २९वाँ ।

रूपस्थ ध्यान ।

सोरठा ।

सर्व विभुव जुत जानिये, ध्यावैं अर्हन्त कूं ।
मन वस करि मतिमान, ते पावै तिम भावकूं ॥

अर्थात्—अपने मनमें अर्हन्तका स्वरूप विचारना सो रूपस्थ ध्यान है अर्थात् अर्हन्त भगवानके स्वरूपमें अपने मनको लगाकर यह विचारना कि इन अर्हन्त भगवानने ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, अंतराय, मोहनी ऐसे चार घातिया कर्मोंका नाशकर अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य प्रकट किया। केवलज्ञानके होते ही समवशरणकी रचना हुई। श्री जिनेन्द्र भगवान सिंहासन पर अंतरीक्षमें विराजमान हैं। देवादिक नाना प्रकारकी भक्ति कररहे हैं। भगवानके रागद्वेष, भूख प्यास, रोग आदि कोई भी दोष अठारह दोषोंमें नहीं है। भगवान शांत स्वरूप देखते ही भव्य जीवोंका चित्त कमलकी भांति प्रफुल्लित होजाता है, जिनकी निरक्षरी वाणी सब सभा उपस्थित जनोंके मस्तकमें [illegible] है जिसको सुनकर ही जीव धर्मकी ओर गमन करते हैं। इस[illegible]

उनकी मूर्तिका ध्यान करते करते यह ध्यानी उन्हींमें तन्मय जाता है अर्थात् एकमेक होजाता है। तब मनकी वृत्ति होजाती है कि जिस समय मन और वस्तुओंसे हटाकर किया उसी समय मनमें श्री अरहंतकी वीतराग मूर्ति झलकने लगती है। इसी तरह अभ्यास हो जानेसे ऐसी ध्यानीकी हो जाती है कि स्वप्नेमें भी अरहंतकी दीखने लगती है। फिर यह विचार होता है कि सर्वज्ञ भगवानकी आत्मामें और मुझमें कुछ भी भेद नहीं है। जो वह हैं सो मैं हूं, क्योंकि इस आत्मामें यह शक्ति है कि जिस विषयकी ओर इसको जोड़कर ध्यान किया जाय उसी विषयकी सिद्धि प्राप्त कर सकता है। यदि राग तथा क्रोधरूपके ध्यानका अभ्यास करे तो जगतभरमें क्षोभ पैदा कर दे, और जो वीतराग होकर शुद्ध स्वरूपका ध्यान करे तो शुद्ध स्वरूप हो जाय। जैसे स्फटिकमणि निर्मल होती है, उसके नीचे जिस रंगकी चीज रखदे उसी होका रूप दिखलाई दे सकता है।

अध्याय २० वाँ।

रूपातीत ध्यान।

दोहा।

सिद्ध निरंजन कर्मविन, मूरति रहित अनंत।
जे ध्यावैं परमात्मा, ते पावैं शिव संत॥

भावार्थ—सब कर्मोंसे दूर पुद्गलकी मूरतको नहीं रखनेवाला अनंत गुणोंके भंडार ऐसे सिद्ध परमात्माका जो ध्यान है यह

रूपातीत ध्यान है। ध्यानका विचारनेवाला यह विचारता है कि सोहं अर्थात् सः अहं अर्थात् जो वह है सो मैं हूं। अर्थात् मेरी शक्ति और सिद्ध भगवानकी शक्ति एक ही साथ है। जैसे वह सर्व संसारके प्रपंचरूप विकल्प जालोंसे रहित राग और द्वेषसे अत्यन्त दूर आनन्द रूप है, वैसे मैं हूं। जैसे वह तीन लोक अलोकका ज्ञान धारनेवाले हैं वैसा मैं हूं। उनमें मुझमें जाति अपेक्षा कोई भेद नहीं है। किन्तु भेद केवल यही है कि उनके गुण शानपर घिसे व पालिस किये हुये नगीनेकी भांति झलक रहे हैं। और हमारी आत्माके गुण खानसे निकले हुये पत्थरकी भांति दबे हुए हैं। यदि हम तप द्वारा इसकी पालिस करेंगे तो यह भी सिद्धभगवानके सदृश हो जायगी।

यह सिद्ध भगवान ज्ञानानंद स्वभाव है सो मैं हूं। मैं अपनेको सिद्ध भगवान ही मानता हूं। वह मेरे जातिके सम्बन्धी हैं। उनसे मित्रता करूंगा अर्थात् उनहीके गुणोंमें यदि मैं लीन हो जाऊंगा तो उनके गुण भले मित्रकी तरह अपनेमें मुझे मिला लेंगे, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है।

इस प्रकार सर्व संसारसे मन हटाकर जो निज आत्माको सिद्ध मान कर ध्यान करते हैं वे अभ्यासके बलसे कर्मोंको नाश कर उस रूप ही हो जाते हैं।

यह ४ प्रकारका धर्म ध्यान परमानंदका करनेवाला तथा शुक्ल ध्यानका पैदा करनेवाला है।

आगममें साधारण रूपसे धर्म ध्यानके ४ भेद यह भी कहे हैं—आज्ञा विचय—अरहंतकी आज्ञाको शास्त्रद्वारा जानकर विचारना,

इससे परिणाम शुभ होते हैं। अपाय विचय–कर्मोंके दूर करनेके उपाय विचारते रहना। विपाक विचय–कर्मोंके फलका विचारना कि संसारमें जीव अपने पुण्य तथा पापके वशमें होकर तरह तरहके दुःख सुख पाते हैं। संस्थान विचय–तीन लोकका स्वरूप तथा स्वर्ग नरकादिका वर्णन विचारना।

यह धर्म ध्यान वीतराग परिणामोंका कारण है।

ऊपर कहा हुआ पिंडस्थ पदस्थादि ध्यानका अभ्यास वीतराग रूप होकर किये जानेसे हमारेमें शुद्धता होती जायगी। ज्यों ज्यों शुद्धता होगी त्यों त्यों कर्मोंकी निर्जरा होगी।

यही शुद्धता जब अधिक हो जाती है, तब शुक्ल ध्यान पैदा हो जाता है। यह शुक्ल ध्यान बढ़ते बढ़ते केवलज्ञानको पैदा कर देता है। इस ध्यानके फलसे यह जीव कर्मोंके बोझेसे हलका होता हुआ स्वर्ग, ग्रीवक आदि गतियोंमें पहुंच जाता है। फिर धीरे धीरे तो मोक्षके फलको प्राप्त करता है, जैसा कहा है–
सवै० २३—

ज्ञान समुद्र जहां सुख नार पदारथ पंकति रत्न विचारो।
राग विरोध विमोह कुजंतु मलीन करै तिनि दूर विडारो॥
शक्ति सम्भारि करो अवगाहन निर्मल होय सुतत्त्व उघारो।
टानि क्रिया [illegible] सबै गुन भोजन भोगत मोक्ष पधारो॥२१॥

इस लिये संसारी जीवोंको अपने लगे हुए कर्मोंको दूर करनेके लिये १२ प्रकार तपके द्वारा कर्मकी निर्जरा करनी चाहिये। जो इस उत्तम उपायको पहचानकर फिर भी ढील करते हैं उनके लिये फिर सुधारका मौका आना एक कठिन पदार्थ है, क्योंकि

यह तीव्र मानसिक शक्ति जोकि मनुष्य गतिमें प्राप्त होती है, और किसी भी मनुष्य गतिसे हीन तिर्यञ्चादि गतियोंमें नहीं प्राप्त होती है। देवगतिमें इन्द्रियोंको लुभानेवाले कारणोंके विशेष होनेसे यह जीव उन्हींमें मुग्ध हो जाता है। और चूंकि मनुष्य जन्म उत्तम समागम अनन्त जन्मोंके भीतर घूमते रहने हुए किसी कारण-विशेषसे प्राप्त हो जाय तो हो जाता है। ऐसे जन्म पाने पर फिर भी जो उन कर्मोंके नाशका उपाय नहीं करते हैं कि जिन कर्मोंके कारण यह जीव सदा काल दुःख पाता रहा तथा यहां भी दुःख पा रहा है, तो हम तो उस व्यक्तिको विचारशून्यके सिवाय कुछ भी नहीं कह सकते हैं।

इसलिये जो इस नर देहीको सफल करना चाहें उन्हें आज-कलका मुंह नहीं ताकना चाहिये, किन्तु मथे हृदयमें अपनी इस आजकल करनेमें नाश हो जानेवाली पर्यायसे अपनी आत्माका भला लेना चाहिये। कलको यह न रही तो पछताना होगा कि हाय, हम चाहते थे कि इस नर देहीमें अपने पूर्व बांधे हुए कर्मोंकी निर्जरा करें। हाय अब क्या करें, अब तो यमराजके मुखमें चले जा रहे हैं।

अध्याय ३१ वाँ

मोक्षतत्त्व।

सातवां तत्त्व मोक्ष है। जब इस जीवसे चार घातिया कर्मोंके पुद्गल भिन्न हो जाते हैं, तब यह जीव जीवन्मुक्त हो जाता है, अर्थात् अरहंत होकर आत्मीक सुख भोगता है। इस दशामें केवे

४ अघातिया कर्म जली हुई रस्सीकी भांति बाकी रहते हैं, जिनका फल उस अरहंत आत्माके आनन्दमें किसी प्रकार बाधक नहीं होता।

यह आयु, नाम, गोत्र, वेदनी रूप चार कर्म भी जब बिलकुल छूट जाते हैं तब यह आत्मा शरीरसे निकलते ही एक समयमें सीधा सिद्ध लोकको पहुंच जाता है। जैसे एरंडका बीज फलीके फूटते ही ऊपरको जाता है व अग्निकी लव सीधी ऊपरको उठ जाती है और यह सिद्धात्मा लोकके ऊपर उसी स्थान तक जाता है जहां तक धर्म द्रव्य है। उस सिद्ध लोकमें अपने अर्हन्तके शरीरसे कुछ कम चैतन्य रूप शरीरको धारता हुआ अपने ज्ञानमें अनंतकाल तक मगन रहता है। फिर उस सिद्धात्माको संसारमें आकर जन्म मरण करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। यह मोक्ष तत्त्व है।

इस प्रकार इन सात तत्त्वोंका स्वरूप जानकर जो अपना विश्वास निर्मल करते हैं वे सम्यक् दर्शन पाते हैं और उसी समय उनका ज्ञान सम्यक् ज्ञानरूप और आचरण सम्यक् चारित्र रूप हो जाता है।

जिसके जीवात्मा व उसके साथ संबंध रखनेवाले पुद्गल आदिका श्रद्धान भले प्रकार हो गया है, वह प्राणी नियम न होने पर भी जुआ खेलना आदि सात व्यसन जो कि प्रत्यक्ष हीमें दुःखके कारण हैं कदापि नहीं करेगा। सत्य वचन बोलनेका नियम न होने पर भी मुखसे कभी परको दुःखदाई ऐसे गूढ़ वचन न निकालेगा, क्योंकि उसके पहले ही आश्रव तत्त्व और उसके कारणोंका श्रद्धान हो गया है। यह जानता है परको असाता पहुंचानेसे असाता वेदनी कर्म बांधना पड़ेगा जिसका फल मुझ ही

को कडुवा मिलेगा। इसीलिये सम्यकृदृष्टि होना धर्मिष्ट होनेको जड़ पक्की करना है। विना सम्यक् [illegible] हिंसा न करने, झूठ [illegible] आदिके नियम समय पाकर टूट जा सकते हैं।

इन सात तत्वोंका ज्ञान बढ़ानेके लिये हमें नित्य [illegible] स्वाध्याय करना चाहिये, ताकि हमें इनका ज्ञान और भी [illegible] और उसीके साथ अपने आचरणको भी धारणा हमारा [illegible]

आचरणके नियम मुनि और श्रावकके लिये [illegible] हैं—अहिंसा, सत्य, असत्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह [illegible] व्रतोंको पूर तौरसे पालना महाव्रतके धारक [illegible] और इन्हीं ५ व्रतोंको थोडा पालना श्रावकका [illegible] श्रावक स्थूल (त्रस) हिंसा न करके सूक्ष्म—[illegible] जीवोंकी बाधा नहीं बचा सकता है। सत्य [illegible] दोष नहीं समझता जिससे किसी दूसरेके [illegible] न करनेमें सर्व स्थानोंमें रहनेवाले मल व [illegible] है। मुनि विना दिया जल भी नहीं लेते। [illegible] स्वस्त्री संतोष नाम व्रत होता है। [illegible] है। परिग्रहमें श्रावक अपने बर्तने योग्य [illegible] है जब कि मुनिके गिनती न होकर [illegible] होता है।

इसीके अंतर्गत और भी कई [illegible] विषयमें हैं। इनका विशेष वर्णन [illegible] जिल्दमें समय पाकर किया जावेगा।

॥ इति ॥